Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाषाविश्लेषण
(भारतीय)

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलोर,
वाराणसी, पुणे, पटना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाषाविश्लेषण (भारतीय)

डॉ० एन० पी० तिवारी
प्राध्यापक
दर्शनशास्त्र विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलोर,
वाराणसी, पुणे, पटना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रथम संस्करण: 2014

© डॉ॰ एन॰ पी॰ तिवारी

ISBN: 978-81-208-3955-7

मोतीलाल बनारसीदास

41 यू.ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली 110 007
236 नाइंथ मेन, III ब्लाक, जयनगर, बंगलूरू 560 011
सनास प्लाज़ा, 1302 बाजीराव रोड, पुणे 411 002
8 महालक्ष्मी चैम्बर, 22, भुलाभाई देसाई रोड, मुम्बई 400 026
203 रायपेट्टा हाई रोड, मैलापोर, चेन्नई 600 004
8 कैमेक स्ट्रीट, कोलकाता 700 017
अशोक राजपथ, पटना 800 004
चौक, वाराणसी 221 001

आर.पी. जैन के द्वारा एन.ए बी प्रिंटिंग यूनिट,
ए-44, नारायणा, फेज-1, नई दिल्ली-110 028 में मुद्रित
एवं जे.पी. जैन के द्वारा मोतीलाल बनारसीदास
41 यू.ए., बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110 007, के लिए प्रकाशित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति है कि यह ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, माया, स्वर्ग-नरक, मोक्ष आदि तत्त्वमीमांसीय सत्ताओं तथा आध्यात्मिक सत्ताओं का अध्ययन करता है। लेकिन भारतीय दर्शन का गूढ़ अध्ययन बतलाता है कि इसमें ज्ञान के सभी आयामों का अध्ययन होता है। विज्ञान, गणित, भाषा, संस्कृति, धर्म, नीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अपराध विज्ञान, व्याकरण, अलंकार, छन्द, आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन भारतीय दर्शन का विषयवस्तु है। अतएव भारतीय दर्शन का स्वरूप बहुआयामी है। उसी स्वरूप में एक स्वरूप भाषाविश्लेषणात्मक है।

वस्तुतः भाषाविश्लेषण एक रोचक विषय है, जिसका आरम्भ पाश्चात्य दर्शन में विटगेन्स्टाइन एवं तर्कीय भाववाद से माना जाता है। परन्तु भारतीय दर्शन में इसका आरम्भ वेदों से होता है। ऋग्वेद में वाक्, वाणी और भाषा के रूप में भाषाविश्लेषण का स्पष्ट बीज दिखलायी पड़ता है। उपनिषदों, स्मृतिग्रंथों, तंत्रग्रंथों आदि में भी भाषाविश्लेषण के तत्त्व पाये जाते हैं। अतएव भारतीय भाषाविश्लेषण पाश्चात्य भाषाविश्लेषण से अत्यधिक प्राचीन है। सम्भवतः विश्व का प्रथम भाषाविश्लेषणात्मक दर्शन भारत में ही संरचित हुआ। एक दार्शनिक स्वरूप के रूप में भाषाविश्लेषण का आरम्भ भर्तृहरि के "वाक्यपदीय" से माना जाता है। यद्यपि पाणिनी, पतंजलि आदि के ग्रंथों में भी भाषाविश्लेषण की विवेचना की गयी है। कैयट, कात्यायन आदि के भाष्यग्रंथों में भाषाविश्लेषण की विस्तृत चर्चा की गयी है। वास्तव में, भारतीय दर्शन में भाषाविश्लेषण की समृद्ध परम्परा रही है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शनों में भाषाविश्लेषण की विस्तृत विवेचना की गयी है।

प्रस्तुत पुस्तक में स्नातकोत्तर वर्गों के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर भाषाविश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है। पिछले दो दशकों से मैं "भारतीय भाषाविश्लेषण" नामक पत्र को पढ़ा रहा हूँ। पढ़ाने के क्रम में छात्र-छात्राओं की कठिनाईयों का अनुभव हुआ। अंग्रेजी भाषा में तो इस पत्र के लिए कतिपय पुस्तकें मिल जाती हैं। परन्तु, हिन्दी भाषा में इस पत्र के लिए पुस्तकों का अभाव है। इसे ही ध्यान में रखकर यह पुस्तक तैयार की गयी है।

प्रस्तुत पुस्तक की पाण्डुलिपि लगभग चार वर्ष पूर्व प्रकाशक को दी गयी थी। परन्तु कतिपय कारणों से पुस्तक के प्रकाशन में विलम्ब हुआ। इस पुस्तक के प्रकाशन में मोतीलाल बनारसीदास के कर्मचारियों सहित प्रबन्धक श्री अरविन्द कुमार चतुर्वेदी जी का भी सत्प्रयास रहा है। अतः उन सब को हृदय से धन्यवाद।

पाण्डुलिपि को सुविज्ञ विद्वान डॉ॰ देवेन्द्रनाथ तिवारी (प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) के पास उनके परामर्श के लिए भेजा गया। उन्होंने उस पाण्डुलिपि के प्रकाशनार्थ अनुमति दी। उनके परामर्श के अनुसार अत्यन्त ही अल्प संशोधन किया गया और पुस्तक इस रूप में प्रस्तुत है। डॉ॰ तिवारी जी को भी हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस पुस्तक की रचना का आधार मुख्यतः दो पुस्तकें हैं— ट्रेन्ड्स ऑफ लिंग्विस्टिक एनालासिस इन इंडियन फिलॉसफी (प्रो॰ हरिमोहन झा) एवं शब्दार्थतत्त्व (डॉ॰ शोभाकान्त मिश्र)। इन दोनों रचनाकारों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। इन पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों की भी सहायता ली गयी है। उन पुस्तकों के लेखकों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ। वस्तुतः मैं अपने सभी छात्र-छात्राओं के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने बार-बार मुझे प्रेरित किया कि भारतीय भाषाविश्लेषण पर पुस्तक लिखूँ। अतएव उन छात्र-छात्राओं को ध्यान में रखकर ही पाठ्यक्रमानुसार पुस्तक लिखी गयी है।

यह पुस्तक प्रतियोगिता सम्बन्धी परीक्षाओं के लिए भी उपयोगी साबित होगी। संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोगों के पाठ्यक्रमों में भी भाषाविश्लेषण (भारतीय एवं पाश्चात्य) एक पाठ के रूप में स्वीकृत है। यहाँ तक कि यू॰ जी॰ सी॰ नेट की परीक्षा में भी भाषाविश्लेषण से प्रश्न पूछे जाते हैं। अतएव यह पुस्तक अवश्य ही छात्रोपयोगी एवं प्रतियोगिता प्रतिभागियों के लिए भी उपयोगी होगी— ऐसा मेरा विश्वास है।

जुलाई, 2014

—एन॰ पी॰ तिवारी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय-सूची

अध्याय		पृ० सं०
1.	**भाषाविश्लेषण : एक परिचय** स्रोत, बीज, स्वरूप, महत्त्व	1-8
2.	**भाषाविश्लेषण का तात्त्विक आधार** तात्त्विक सिद्धान्त, वाक् के स्तर, संकेत के प्रकार	9-13
3.	**भाषा की इकाई** वर्णवाद, पदवाद, वाक्यवाद	14-18
4.	**शब्द और अर्थ का सम्बन्ध**	19-24
5.	**अभिधा, लक्षणा और व्यंजना**	25-43
6.	**शक्तिग्रहोपाय** शब्दग्रह या संकेतग्रह— जातिवाद, व्यक्तिवाद, आकृतिवाद, जात्याकृति व्यक्तिवाद, बौद्ध दर्शन द्वारा आलोचना, शब्द की विशेष भूमिका।	44-56
7.	**वाक्यार्थ की शर्तें** वाक्य के स्वरूप, वैयाकरणों के सिद्धान्त, नैयायिकों के सिद्धान्त, वाक्यार्थ की शर्तें, शाब्दबोध	57-69
8.	**अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद**	70-81
9.	**स्फोटवाद** प्रवर्त्तक, स्फोट का अर्थ, पतंजलि का स्फ़ोटवाद, भर्तृहरि का स्फोटवाद, ध्वनि और स्फोट, स्फोट सम्बन्धी समस्याएँ, ध्वनि के प्रकार, स्फोट का वर्गीकरण, समीक्षा	82-104
10.	**अवच्छेदकता** अर्थ, प्रयोग, अवच्छेदक धर्म, वाक्यों का विश्लेषण	105-119
11.	**निषेध** परिभाषा, तत्त्व, अर्थ, वैशेषिक दर्शन के अनुसार निषेध का प्रकार, नव्य न्याय के अनुसार निषेध का प्रकार, बौद्ध दर्शन के अनुसार निषेध का संप्रत्यय, अपोह का प्रकार, आलोचना, आलोचना का उत्तर	120-138
●	**उपसंहार**	139-145

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रथम अध्याय

भाषाविश्लेषण : एक परिचय

भाषाविश्लेषण का तात्पर्य है भाषा का विश्लेषण। भाषा वह माध्यम है जिससे हम अपने विचारों, भावनाओं और उद्गारों को अभिव्यक्त करते हैं। हम जिस परिवेश, समाज, राज्य या राष्ट्र में रहते हैं, उसी के अनुकूल हमारी भाषा होती है। दक्षिण भारत में तेलगू, तमिल, कन्नड़ और मलयालम भाषा प्रचलित है, तो उत्तर भारत में बंगला, पंजाबी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी, उड़िया, असमिया आदि भाषाओं का प्रचलन है। बिहार राज्य में ही कई भाषाएँ प्रचलित हैं— भोजपुरी, अंगिका, मैथिली, बज्जिका, मगही। परन्तु ये सभी क्षेत्रीय, आंचलिक और प्रान्तीय भाषा हैं। राष्ट्रीय भाषा हिन्दी है, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी है। फ्रांस की भाषा फ्रेंच है, तो जर्मनी की भाषा जर्मन। चीन की भाषा चीनी है, तो जापान की भाषा जापानी है। श्रीलंका की भाषा सिंहली कहलाती है। फिर भी इन सभी देशों में अंग्रेजी को सम्पर्क एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकारा गया है। भाषा कोई भी हो, लेकिन उसका मूर्त्त रूप कथनों या वाक्यों में दिखता है, अर्थात् हम अपने विचारों, भावनाओं तथा उद्गारों को कथनों या वाक्यों में प्रस्तुत करते हैं। अतएव भाषाविश्लेषण का तात्पर्य कथनों या वाक्यों का विश्लेषण है। पाश्चात्य दार्शनिक विटगेन्स्टाइन ने दर्शन का कार्य ''वाक्यों का विश्लेषण'' बतलाया है। पाश्चात्य दर्शन में भाषाविश्लेषण का आरम्भ विटगेन्स्टाइन से ही माना जाता है। विटगेन्स्टाइन की पुस्तक ''ट्रैक्टेटस'' को भाषाविश्लेषण का बाइबिल माना जाता है। सर रॉबर्ट अमर्मेन ने ''विश्लेषण का अर्थ भाषायी या सम्प्रत्ययात्मक इकाईयों के विश्लेषण में विषम (अलग-अलग) दार्शनिक विचारों को एक साथ समूहबद्ध करने का मार्ग'' बतलाया है।[1]

अमर्मेन ने ''भाषायी या सम्प्रत्ययात्मक इकाईयों'' पद का प्रयोग किया है। भाषायी इकाई का तात्पर्य भाषा से सम्बन्धित इकाई है। भाषा का मूर्त्त रूप कथन या वाक्य है, तो उसकी इकाई वह सरलतम रूप है जिससे वाक्य बनते हैं। वाक्य शब्दों से बनते हैं, और शब्द अक्षरों से बनते हैं। अतः भाषा की सरलतम इकाई अक्षर है। अक्षरों द्वारा शब्दों के निर्माण का नियम होता है, जिसे व्याकरणशास्त्र में बतलाया जाता है। प्रत्येक भाषा का अपना व्याकरण होता है। व्याकरण वाक्यों की संरचना विधि को बतलाता है। इस विधि द्वारा वाक्य-विन्यास के साथ-साथ शब्दों की व्युत्पत्ति को भी बतलाया जाता है। अतः वाक्यों का संरचनात्मक रूप दो प्रकार के हैं— विन्यासात्मक (syntatic) तथा व्युत्पत्तिपरक (Etymological)। वाक्यों के इन दोनों रूपों के साथ-साथ वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों का सही उच्चारण भी आवश्यक है। अतएव वाक्य के संरचनात्मक रूप का तीसरा मोड़ उच्चारणपरक (Phonetical) है। वाक्य के अर्थ की सही-सही अभिव्यक्ति सही उच्चारण द्वारा ही होती है। अतएव वाक्य के अर्थ का स्पष्टीकरण व्याकरण की जिस शाखा में होता

1. सर रॉबर्ट अमर्मेन, द क्लासिक ऑफ एनालिटिकल फिलॉसफी, उद्धृत प्रो॰ हरिमोहन झा, ट्रेन्डस ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस इन इंडियन फिलॉसफी पृ॰ vii.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, उसे अर्थमीमांसा (Semantics) कहा गया है। वाक्य का यह अर्थात्मक रूप है। वाक्य के अर्थ को जानकर ही उसके अनुकूल क्रिया होती है। अतएव वाक्य को संज्ञानात्मक (cognitive) और क्रियात्मक (Pragmatic) भी माना जाता है। भारतीय दर्शन के संदर्भ में वाक्य में निहित शब्द तत्त्वमीमांसीय भी होते हैं, अर्थात् वाक्य का अर्थ तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से भी जाना जाता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अंतर्गत भाषाविश्लेषण का तात्पर्य तत्त्वमीमांसीय कथनों, ज्ञानमीमांसीय (संज्ञानात्मक) कथनों, क्रियात्मक (नैतिक) कथनों, उच्चारणशास्त्र, व्युत्पत्तिशास्त्र, तार्किक विन्यास, वाक्य विन्यास तथा अर्थमीमांसक कथनों का विश्लेषण है। पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत भाषाविश्लेषण वाक्य विन्यास, तार्किक विन्यास, उच्चारणशास्त्र और अर्थमीमांसा तक ही सीमित है। अतः भाषाविश्लेषण के क्षेत्र में भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

भारतीय भाषाविश्लेषण का आरम्भ यास्क के निरूक्त से माना जाता है, जबकि पाश्चात्य भाषाविश्लेषण का प्रारम्भ विटगेन्स्टाइन के ट्रैक्टेटस से माना जाता है। यास्क का काल सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, जबकि विटगेन्स्टाइन का काल बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। यास्क के निरुक्त में भाषाविश्लेषण का व्युत्पत्तिपरक स्वरूप पाया जाता है, जबकि विटगेन्स्टाइन के दर्शन में भाषाविश्लेषण का अर्थमीमांसक स्वरूप पाया जाता है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भाषाविश्लेषण का तात्पर्य अर्थमीमांसा से ही लिया जाता है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन के अन्तर्गत भर्तृहरि की पुस्तक वाक्यपदीय को ही भाषाविश्लेषण का प्रथम ग्रंथ माना जा सकता है। भर्तृहरि का काल चौथी शताब्दी है। अतएव भारतीय दर्शन में भाषाविश्लेषण अत्यन्त प्राचीन है, जबकि पाश्चात्य दर्शन में यह अत्यन्त नवीन है।

भारतीय दर्शन के अंतर्गत भाषाविश्लेषण का स्वरूप जिस रूप में प्रतिष्ठित है, वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन में भाषाविश्लेषण का वह स्वरूप नहीं पाया जाता है। पाश्चात्य भाषाविश्लेषण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बतलाना ही इतिश्री समझता है। साधारण भाषा और दार्शनिक भाषा के रूप में शब्दार्थ और वाक्यार्थ की विवेचना की जाती है। लेकिन, भारतीय भाषाविश्लेषण शब्दार्थ और वाक्यार्थ तक ही सीमित नहीं है। इसमें व्याकरण के विषयों की भी समीक्षा की जाती है। अतएव विषय की दृष्टि से भी भारतीय भाषाविश्लेषण अपेक्षाकृत व्यापक है।

भारतीय भाषाविश्लेषण के स्रोत—भारतीय भाषाविश्लेषण का स्रोत यास्क के निरुक्त के साथ-साथ अन्य ग्रंथ भी हैं। उन ग्रंथों की संक्षिप्त सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। यास्क के पश्चात पाणिनी की अष्टाध्यायी प्रमुख मानी जाती है। पाणिनी संस्कृत व्याकरण के प्रकाण्ड आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने व्याकरण से सम्बन्धित सभी विषयों का उल्लेख अपनी इस पुस्तक के आठ अध्यायों में किया है। इसलिए इस पुस्तक को अष्टाध्यायी कहते हैं। पाणिनी का काल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व है। पाणिनी की इस पुस्तक पर पतंजलि ने भाष्य लिखा है। उस भाष्य का नाम महाभाष्य है। इसे पाणिनीसूत्रभाष्य भी कहा जाता है। परन्तु यह महाभाष्य से ही प्रचलित है। पतंजलि का काल पहली शताब्दी ईसा पूर्व है। महाभाष्य पर वर्त्तिका लिखी गयी, जिसके लेखक कात्यायन हैं। कैयट ने "प्रदीप" नामक भाष्य लिखा है। इन तीन पुस्तकों में भाषा के सूक्ष्म विश्लेषण को व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है। शब्द की व्युत्पत्ति, उसकी संरचना और उसके अर्थ का उसके साथ संबंध की भी विवेचना की गयी है। नागेश भट्ट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ने अपनी "उद्योत टीका" में व्याडि की पुस्तक "संग्रह" का उल्लेख किया है, जिसमें भाषाविश्लेषण से संबंधित एक लाख श्लोकों को संकलित किया गया है। संगमलाल पाण्डेय ने नागोजी भट्ट को उद्योत टीका का लेखक माना है।[2] नागोजी भट्ट का काल अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। यदि नागोजी भट्ट और नागेश भट्ट एक ही व्यक्ति हैं, तो नागेश भट्ट का काल अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ही होना चाहिए। डॉ॰ वी॰ कृष्णास्वामी आयंगार ने भी नागेश भट्ट को ही उद्योतटीका का लेखक माना है।[3]

पुण्यराज एवं हेलराज ने भर्तृहरि की पुस्तक 'वाक्यपदीय' पर भाष्य लिखा है। नागेश भट्ट तथा कोंड भट्ट ने भी क्रमशः लघु मंजूषा तथा स्फोटवाद एवं व्याकरणभूषण सार में भाषाविश्लेषण के प्रायः सभी स्वरूपों का विवेचन किया है। माधवाचार्य, जिसका काल चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, ने अपनी पुस्तक "सर्वदर्शन संग्रह" में पाणिनी दर्शन नामक एक अध्याय प्रस्तुत किया है, जिसमें भर्तृहरि एवं उनके समकालीन दार्शनिकों के विचार को उल्लेखित किया गया है। माधवाचार्य के बाद ही नागेश भट्ट आते हैं। उसी आसपास कोंड भट्ट भी आते हैं। अतएव लघु मंजूषा, स्फोटवाद तथा व्याकरणभूषण सार की रचना सर्वदर्शन संग्रह की रचना के लगभग चार सौ साल बाद हुई है। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि जिस भाषाविश्लेषण का आरम्भ यास्क से होता है, उसकी पूर्णावस्था नागेश भट्ट और कोंड भट्ट में आकर होती है। किन्तु भारतीय भाषाविश्लेषण अठारहवीं शताब्दी तक ही सिमट कर नहीं रह जाता है।

भारतीय भाषाविश्लेषण के स्रोत भारतीय दर्शन के नास्तिक और आस्तिक सम्प्रदायों में भी ढूँढे जा सकते हैं। जैन दार्शनिक हेमचन्द्र की पुस्तक **शब्दानुशासन** तथा मल्लीसेन की **स्याद्वादमंजरी** में भाषाविश्लेषण का विस्तार पाया जाता है। हेमचन्द्र का काल बारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध है, तो मल्लीसेन तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हुए। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की पुस्तकें क्रमशः **प्रमाणसमुच्चय** और **प्रमाणवार्त्तिक** भाषाविश्लेषण की विवेचना करती हैं। इनके अतिरिक्त रत्नकीर्ति की अपोहसिद्धि, शान्तरक्षित की तत्त्वसंग्रहकारिका एवं कमलशील की तत्त्वसंग्रहपंजिका में भी भाषाविश्लेषण की विवेचना पायी जाती है। शान्तरक्षित और कमलशील आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए, तो रत्नकीर्ति दसवीं शताब्दी के अन्त में आये। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का काल क्रमशः पांचवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध (480 ई॰) तथा छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध (560 ई॰) है। दोनों के काल में लगभग अस्सी वर्षों का अन्तर है। स्पष्ट है कि जैन भाषाविश्लेषण का विस्तार बौद्ध भाषाविश्लेषण के पश्चात हुआ। बौद्ध भाषाविश्लेषण का आरम्भ और विकास पाँचवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक होता है, तो जैन भाषाविश्लेषण का विकास बारहवीं शताब्दी से आरम्भ ही होता है। भाषाविश्लेषण की दृष्टि से जैन दर्शन बौद्ध दर्शन का परवर्ती है।

आस्तिक सम्प्रदाय के अंतर्गत भारतीय भाषाविश्लेषण का आरम्भ न्याय दर्शन के प्रणेता गोतम से माना जा सकता है। गोतम के न्यायसूत्र, उस पर वात्स्यायन का भाष्य, उद्योतकर का न्यायवार्तिक, वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका, जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी, उदयन की न्यायकुसुमांजलि, अन्नम्भट्ट का तर्कसंग्रह, तर्कदीपिका, विश्वनाथ

2. संगम लाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ॰ 555
3. डॉ॰ वी॰ कृष्णास्वामी आयंगार, पाणिनीय व्याकरण की भूमिका, पृ॰ 94

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का भाषापरिच्छेद, सिद्धान्तमुक्तावली, केशवमिश्र की तर्कभाषा, श्रीकंठ का तर्कप्रकाश, वरद की तार्किक रक्षा नामक पुस्तकें न्याय दर्शन के भाषाविश्लेषण को प्रस्तुत करती हैं। गोतम पहली शताब्दी ई॰ पू॰ हुए, तो वात्स्यायन और उद्योतकर का काल क्रमशः चौथी शताब्दी का प्रथम दशक और छठी शताब्दी का पांचवाँ दशक है। वाचस्पति मिश्र नौवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में हुए, तो उदयन दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (नवें दशक) में आये। जयन्त भट्ट का काल दसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक है। विश्वनाथ सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, तो अन्नम्भट्ट उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। केशव मिश्र, श्रीकंठ तथा वरद अठारहवीं शताब्दी के आसपास हुए या सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए होंगे— इस पर मैं निश्चित रूप से निर्णय नहीं दे सकता हूँ। इन नैयायिकों के अतिरिक्त नव्य न्याय के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय की **तत्त्वचिन्तामणि** भारतीय भाषाविश्लेषण की प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। इस पुस्तक पर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें प्रमुख हैं— रघुनाथ शिरोमणि की तत्त्वदीधिती, पक्षधर मिश्र की तत्त्वालोक, जगदीश की जागदीशी, गदाधर की गादाधारी, मथुरानाथ की माथुरनाथी। इनके अतिरिक्त गदाधर मिश्र की व्युत्पत्तिंवाद, शब्दशक्ति प्रकाशिका और जगदीश की अवच्छेदकत्वनिरुक्ति भी भाषाविश्लेषण की प्रमुख पुस्तकें हैं। गंगेश उपाध्याय बारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में हुए, तो पक्षधर मिश्र तेरहवीं शताब्दी के आठवें दशक में हुए। रघुनाथ शिरोमणि का काल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, तो मथुरानाथ का काल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। जगदीश और गदाधर का काल क्रमशः सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध और उसी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

न्याय दर्शन के पश्चात भाषाविश्लेषण की दृष्टि से मीमांसा दर्शन प्रमुख है। न्याय दर्शन और मीमांसा दर्शन शब्द-विवेचन में कई बिन्दुओं पर परस्पर असहमत हैं। अतएव भारतीय भाषाविश्लेषण को समझने के लिए इन दोनों दर्शनों का अध्ययन आवश्यक है। मीमांसा दर्शन के प्रणेता जैमिनी के मीमांसासूत्र में भाषाविश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है, जिसकी स्पष्ट व्याख्या शबरस्वामी के शाबरभाष्य (मीमांसासूत्र भाष्य) में पायी जाती है। पुनः, प्रभाकर की वृहतीटीका, शालिकनाथ मिश्र की प्रकरणपंजिका, कुमारिल की श्लोकवार्त्तिक, पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका और न्यायरत्नमाला, तथा मंडन मिश्र की स्फोटसिद्धि मीमांसा दर्शन में विवेचित भाषाविश्लेषण के स्रोत हैं। जैमिनी का काल तीसरी शताब्दी ई॰ पू॰ है। लगभग चार सौ से अधिक वर्षों के बाद शबर ने जैमिनीसूत्र (मीमांसासूत्र) पर भाष्य लिखा। तात्पर्य यह है कि शबर का काल दूसरी शताब्दी का अन्तिम वर्ष है। शबर के लगभग चार सौ साल बाद प्रभाकर और कुमारिल ने शाबरभाष्य पर टीकाएँ लिखीं, और मीमांसा दर्शन का विकास दो सम्प्रदायों (गुरू और भाट्ट) में हुआ। प्रभाकर और कुमारिल दोनों सातवीं शताब्दी में हुए। मंडन मिश्र भी उसी शताब्दी में हुए। शालिकनाथ मिश्र भी प्रभाकर के समकालीन थे, अर्थात् इनका काल भी सातवीं शताब्दी है। परन्तु पार्थसारथि मिश्र कुमारिल के लगभग छः सौ साल बाद हुए। इनका काल तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम वर्ष है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन के भाषाविश्लेषण का आरम्भ तीसरी शताब्दी ई॰ पू॰ से होता है, और उसका विकसित रूप तेरहवीं शताब्दी में मिलता है। लेकिन मीमांसा दर्शन की दृष्टि से सातवीं शताब्दी महत्वपूर्ण है, क्योंकि मीमांसा दर्शन में भाषाविश्लेषण इसी शताब्दी में समृद्ध होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदान्त एवं अलंकारशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय, तो भाषाविश्लेषण की झांकी शंकर के ब्रह्मसूत्रभाष्य (जिसे शांकरभाष्य भी कहा जाता है), वाचस्पति मिश्र की भामती टीका और धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्त परिभाषा में मिलती है। यह झांकी अद्वैतवादी है। भर्तृहरि ने भी अद्वैतवादी दृष्टि से ही भाषा का विश्लेषण किया है। मम्मट भट्ट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्य दर्पण, जगन्नाथ का रसगंगाधर, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, दंडी का काव्यादर्श, भामह का काव्यालंकार तथा क्षेमेन्द्र का औचित्य विचार चर्चा अलंकारशास्त्रीय दृष्टि से भाषा का विश्लेषण करनेवाली महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। शंकर सातवीं शताब्दी में हुए। भामती के लेखक वाचस्पति मिश्र का काल नौवीं शताब्दी है और धर्मराजाध्वरीन्द्र का काल सत्रहवीं शताब्दी है। मम्मट भट्ट भी संभवतः सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में हुए। जगन्नाथ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर अभिनव गुप्त ने "ध्वन्यालोकलोचन" नामक टीका लिखीं। अभिनव गुप्त का काल दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। अतएव आनन्दवर्धन का काल आठवीं या नवीं शताब्दी होना चाहिए। स्पष्ट है कि अलंकारशास्त्र की दृष्टि से भी भारतीय भाषाविश्लेषण आठवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच समृद्ध हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन के अन्तर्गत भाषाविश्लेषण अपेक्षाकृत कोई नयी विद्या नहीं है। यह पाश्चात्य भाषाविश्लेषण की अपेक्षा अधिक समृद्ध और विकसित है।

भारतीय भाषाविश्लेषण का बीज

अभी तक तो मैने भाषाविश्लेषण के स्रोत की चर्चा की है। लेकिन इस स्रोत का बीज वैदिक ग्रंथों में पाया जाता है। वैदिक ग्रंथों के अंतर्गत वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण आदि आते हैं। तांत्रिक ग्रंथों तथा योग की पुस्तकों में भी भाषाविश्लेषण का बीज देखा जा सकता है। जैसे— षट्चक्र निरूपण, हठयोग प्रदीपिका नामक पुस्तकें।

ऋग्वेद[4] के अनुसार बच्चे सबसे पहले वस्तुओं का नाम मात्र जानते हैं। नाम का ज्ञान भाषा द्वारा ही होता है। यही कारण है कि वस्तुनाम का ज्ञान भाषा की पहली सीढ़ी है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु का परिचय भाषा द्वारा ही संभव है। भाषा की अभिव्यक्ति वाणी या वाक् द्वारा होती है। यही कारण है कि ऋग्वेद के ऋषियों ने भाषा, वाक् या वाणी को समानार्थक माना है, और उन्हें देवता की संज्ञा दी गयी है। वाणी को देवी के रूप में प्रस्तुत कर उसके मुंह से कहलवाया है कि वाणी ही सब भुवनों का निर्माण करती है, वायु के समान चलती है, तथा धरती और द्युलोक से भी बड़ी है।[5] वाणी या भाषा का ज्ञान सरस्वती की कृपा से ही संभव है।[6] सरस्वती को विद्या या ज्ञान की देवी माना जाता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि "वाक् देवी सरस्वती हमसे सम्बद्ध हैं।"[7] हम का तात्पर्य मनुष्य है। वाक् या वाणी को देवी कहा गया है और उसे सरस्वती की संज्ञा दी गयी है। सामवेद में भी सरस्वती को पूजनीय माना गया है, क्योंकि गायत्री आदि सात छंद एवं गंगादि नदियों की बहनें सदैव हमारी मनोकामनाएँ पूरी करती हैं।[8] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वाक्

4. ऋग्वेद, 10.71.1
5. वही, 10.125.8
6. वही, 10.71.1
7. अथर्ववेद, 6.94.3
8. सामवेद, 13.4.1-2.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परमसत्ता है।[9] आत्रेय ब्राह्मण में भी वाक् या भाषा को परमसत्ता की संज्ञा दी गयी है।[10] बृहदारण्यक उपनिषद् में भाषा या वाक् को सर्वोच्च देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[11] तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि इन्द्र ने वाक् या भाषा का विश्लेषण किया और तब से भाषाविश्लेषण की उत्पत्ति हुई।[12] मनुस्मृति में अक्षर (भाषा) को ब्रह्मा और प्रजापति की संज्ञा देकर उसे अविनाशी बतलाया है।[13] इस प्रकार भारतीय भाषाविश्लेषण का बीज स्पष्टतः वैदिक ग्रंथों में निहित है।

भाषा का स्वरूप

ऋग्वेद में भाषा को "बैल" की संज्ञा दी गयी है। कहा गया है कि एक बैल ऊँचे स्वर में कुछ कह रहा है। यह विलक्षण प्रकार का बैल है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। इसे तीन स्थानों में (प्रकार से) बाँधा गया है। यह कह रहा है कि महादेव मर्त्यों में अवतरित हुए हैं।[14] यहाँ भाषा की उपमा बैल से दी गयी है। अतः भाषा उपमेय और बैल उपमान है। दूसरे शब्दों में, उपमेय-उपमान संबंध द्वारा भाषा और बैल के अपार्थक्य को बतलाया गया है। वस्तुतः बैल के चार सींग से चार प्रकार के शब्द-भेद का संकेत दिया गया है। वे शब्द-भेद हैं— नाम, क्रिया, उपसर्ग और निपात। बैल के तीन पैर का अर्थ है काल के तीन भेद— भूत, वर्तमान और भविष्य। दो सिर का तात्पर्य भाषा के दो स्वरूप से है— नित्य (स्फोट) और अनित्य (ध्वनि)। सात हाथ सात विभक्तियों (कारकों) का द्योतक है। बैल का तीन स्थानों में बंधा होना बतलाता है कि भाषा की अभिव्यक्ति उच्चारण द्वारा होती है और उच्चारण की प्रक्रिया का आरम्भ हृदय से होता है, फिर कंठ और फिर मूर्धा (शिरस) में आने के पश्चात वायु की गति से ध्वनियों का उच्चारण होता है। भाषा की अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा उच्चारण के माध्यम से होती है और उरस्थ वायु का प्रवाह कंठस्थ होते हुए तालु, जिह्वा आदि उच्चारण-स्थान में प्रवेश करने के पश्चात ही ध्वनि वायु-वेग से उच्चरित होती है। महादेव मर्त्यों में अवतरित हुए हैं का तात्पर्य परम भाषा (स्फोट या शब्दब्रह्म) ही साधारण भाषा (लौकिक भाषा) में अभिव्यक्त होती है। अतएव परम भाषा या परम तत्त्व (शब्दब्रह्म) तक पहुंचने के लिए साधारण भाषा का ज्ञान आवश्यक है। बैल के चार सींग का तात्पर्य भाषा के चार स्तर से भी है— परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी। परा ही शब्दब्रह्म है। बैखरी साधारण भाषा है। यह बोलचाल की भाषा है। मध्यमा प्रेम और भक्ति की भाषा है। पश्यन्ति अन्तर्मन और अन्तर्ध्यान की भाषा है। परा सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ और परम भाषा है।

ऋग्वेद के उक्त सूक्त का अर्थ स्पष्ट करता है कि भाषा के दो स्वरूप हैं— पारमार्थिक या तत्त्वमीमांसीय और व्यावहारिक या वैयाकरण। भाषा का तत्त्वमीमांसीय स्वरूप शब्दब्रह्म या स्फोट है। यह मात्र एक, अविभाज्य, अवयवहीन (निरवयव), पूर्ण और अद्वितीय है। इसे अद्वैत भी कहा जाता है। भाषा का वैयाकरण रूप व्याकरणशास्त्र या

---

9. शतपथब्राह्मण, 2.1.4.10
10. आत्रेय ब्राह्मण, 6.3
11. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.1
12. तैत्तिरीयसंहिता, 6.4.7
13. मनुस्मृति, 2.84
14. ऋग्वेद, 4.58.3

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्याकरणदर्शन का पर्याय है। व्याकरणशास्त्र (दर्शन) के अनुसार भाषा वह है जो विचार, भाव और संवेग को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करती है। वस्तुतः भाषा का तात्पर्य ही शब्द है। इसलिए भाषा दर्शन का तात्पर्य शब्द दर्शन है। भाषा या शब्द दर्शन के अंतर्गत भाषा अर्थात् शब्द का विश्लेषण होता है। इसलिए भाषा दर्शन को भाषाविश्लेषण भी कहते हैं। भाषा का विश्लेषण करने पर उसकी इकाई अक्षर के रूप में प्राप्त होती है, क्योंकि शब्द भी अक्षर से बनते हैं। शब्द का अर्थ केवल पद नहीं है, बल्कि वाक्य भी है। कहा गया है कि आप्तोपदेशः शब्दः अर्थात् आप्त पुरुष (विश्वसनीय या प्रामाणिक व्यक्ति) का उपदेश या वचन शब्द है। उपदेश वाक्यों में दिये जाते हैं। अतएव वाक्य शब्द है। वाक्य का प्रयोग तीन कालों और सात विभक्तियों में होता है। वाक्यों में एक पद (शब्द) या अधिक पदों (शब्दों) का प्रयोग होता है। वे पद संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय होते हैं। कोई भी पद क्रिया (धातु) में उपसर्ग या प्रत्यय लगकर बनता है। अतएव व्याकरणशास्त्र के अंतर्गत संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, उपसर्ग, प्रत्यय, कारक, काल आदि का अध्ययन होता है। ये सभी भाषा के संरचनात्मक तत्त्व हैं। इनके साथ ही, किसी शब्द का उच्चारण और उसकी ध्वनि के उतार-चढ़ाव का व्यवस्थित क्रम के नियम भी होते हैं। इनकी जानकारी भी व्याकरणशास्त्र से मिलती है। व्याकरणशास्त्र का यह अंश उच्चारणशास्त्र या ध्वनिशास्त्र कहलाता है। किन्तु उच्चारण या ध्वनि से जिन शब्दों या वाक्यों को अभिव्यक्त किया जाता है, उनके अर्थ उच्चारण या ध्वनि-क्रम के अनुकूल ही अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए किसी शब्द या वाक्य के सही अर्थ जानने के लिए उच्चारण का सही-सही प्रयोग आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र का वह भाग जो बतलाता है कि शब्द या वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, अर्थमीमांसा या शब्दार्थ मीमांसा कहलाती है। उच्चारणशास्त्र, ध्वनिशास्त्र, अर्थमीमांसा एवं संरचनात्मक व्याकरणशास्त्र— ये सभी साधारण भाषा या वैयाकरण के अंग हैं।

भाषा का महत्त्व

भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपनी बात समझा पाते हैं, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-झरने, पर्वत-जंगल अपनी-अपनी आवश्यकताओं, अनुभूतियों और संवेदनाओं को स्पष्ट करते हैं। पर्वत की मूकता, जंगल का सांय-सांय, नदी-झरनों का कल-कल, पेड़-पौधों का झूमना, कीड़े-मकोड़ों का गुनगुनाना, पशु-पक्षियों का कलरव एवं पगुराना— ये सभी भाषा के ही रूप हैं। मूक-बधिर भी अपनी विशेष भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा ही वह माध्यम है जो ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा, मोक्ष जैसे अमूर्त्त एवं अलौकिक सत्ताओं से हमारा परिचय कराती है। इस प्रकार भाषा ही सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। दंडी के शब्दों में, "भाषारूपी ज्योति के कारण सारे संसार (तीनों लोकों) में प्रकाश फैला हुआ है।"[15] प्रकाश का अर्थ असंदिग्ध ज्ञान है। दूसरे शब्दों में, असंदिग्ध ज्ञान भाषा के सही नियमों के जानने और पालन करने से ही संभव है अन्यथा अस्पष्ट, संदिग्ध एवं भ्रमजन्य ज्ञान प्राप्त होता है। अतएव भाषा ईश्वरीय शक्ति या उससे भी ऊपर है। पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों की भाषा मूक-बधिर की भाषा के समान सांकेतिक होती है। सांकेतिक भाषा को ध्वन्यात्मक भी कहते हैं, क्योंकि इसमें केवल ध्वनि द्वारा संकेत प्रदान किया जाता है। जैसे— पशु-पक्षियों, नदी-झरने की भाषा। साधारण व्यक्ति उच्चारण द्वारा ध्वनि की

---

15. डॉ॰ वी॰ कृष्णास्वामी आयंगार, उपर्युक्त, पृ॰ 15

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सहायंता से भाषा का प्रयोग करता है। यह भाषा ध्वन्यात्मक होते हुए भी शब्दयुक्त होती है। अतएव भाषा सांकेतिक और शाब्दिक दोनों होती है, और भाषा के दोनों अर्थ को समझना आवश्यक है। अर्थ समझने के लिए भाषा का विवेचन या विश्लेषण अनिवार्य है। संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर दंडी ने अपनी पुस्तक "काव्यादर्श" में भाषा को "शिष्टानुशिष्टानाम्" कहा है।[16] शिष्टानुशिष्टानाम् का अर्थ है ऐसे शब्द जो शिष्ट समाज द्वारा स्वीकृत और वैयाकरणों के नियमों से प्रमाणित हैं। शिष्ट समाज का तात्पर्य उस समाज से है जो भाषा को जानता है, भाषा को जाननेवाला ही वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित प्रामाणिक नियमों को समझ सकता है। यही कारण है कि ऋग्वेद का ऋषि उन्हें अज्ञानी मानता है जो "भाषा को देखकर भी नहीं देखता है, भाषा को सुनकर भी नहीं सुनता है"।[17] ऋषि के इन शब्दों का अर्थ है कि भाषा के सभी स्वरूपों— ध्वन्यात्मक, संरचनात्मक, उच्चारणपरक, अर्थात्मक आदि— को जानने और समझने के पश्चात ही कोई सही मायने में भाषाविद् या ज्ञानी हो सकता है। भाषा का ज्ञान व्याकरण के माध्यम से ही संभव है। यही कारण है कि भाषा दर्शन को व्याकरण दर्शन की संज्ञा दी जाती है। आयंगार की मान्यता है क़ि, "प्राचीन काल में भाषा का व्यवहार तो हो रहा था, पर उसका विवेचन-विश्लेषण नहीं हुआ था। इस विश्लेषण (भाषा का विश्लेषण) का नाम ही "व्याकरण" है।"[18] वैदिक काल में भाषा अव्याकृत रही होगी। फलतः कतिपय व्रिद्वानों को उसके विश्लेषण की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन विद्वानों ने 'इन्द्र' से इस कार्य के सम्पादन का दायित्व वहन करने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर इन्द्र ने भाषा-विवेचन (विश्लेषण) के लिए एक "व्याकरण" की रचना की।[19] इस व्याकरण का नाम 'ऐन्द्र व्याकरण' है जो भारतीय भाषाविश्लेषण की प्रथम पुस्तक मानी जाती है। परन्तु आज यह पुस्तक अलभ्य है। इन्द्र के जन्म, देश, काल, ग्रंथ आदि के विषय में हम पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। किंवदन्ती है कि तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण "तोल्काप्पियम्" ऐन्द्र व्याकरण से प्रभावित है। परन्तु पाणिनी ने अपनी पुस्तक अष्टाध्यायी में इन्द्र और ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख नहीं किया है, जबकि अपने पूर्ववर्ती दस आचार्यों को नामोल्लिखित किया है। उन आचार्यों में प्रमुख हैं— शाकटायन और गार्ग्य। शाकटायन व्युत्पत्तिवादी थे, जबकि गार्ग्य अव्युत्पत्तिवादी थे। शाकटायन के अनुसार सभी शब्द किसी-न-किसी धातु या क्रिया से व्युत्पन्न हैं, जबकि गार्ग्य की मान्यता है कि सभी शब्द व्युत्पन्न नहीं होते हैं, पर क़ई शब्द व्युत्पन्न हो सकते हैं। गार्ग्य की दृष्टि अपेक्षाकृत उदार हैं।

□

16. वही, पृ॰ 16
17. ऋग्वेद, 10.71.4
18. डॉ॰ वी॰ कृष्णास्वामी आयंगार, उपर्युक्त, पृ॰ 19
19. तैत्तिरीय संहिता, 6.4.7.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वितीय अध्याय

भाषाविश्लेषण का तात्त्विक आधार

गत अध्याय में भाषाविश्लेषण के स्रोत, बीज और स्वरूप का उल्लेख किया गया है। उस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन के अंतर्गत भाषाविश्लेषण तत्त्वमीमांसीय सत्ताओ के बिना नहीं समझा जा सकता है। ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक ग्रंथों में भाषा को ईश्वर या ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। ईश्वर या ब्रह्म तात्त्विक (तत्त्वमीमांसीय) सत्ता है। तत्त्वमीमांसा दर्शन का वह प्रभाग है जिसमें मूल तत्त्व की खोज की जाती है। मूल तत्त्व वह अनादि और अनन्त सत्ता है जो विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारक है। पाश्चात्य दर्शन की दृष्टि में मूल तत्त्व या तो जड़तत्त्व है या प्रत्यय तत्त्व या दोनों ही। रसेल, जेम्स आदि के अनुसार अनुभय या तटस्थ तत्त्व ही मूलतत्त्व है। तटस्थ तत्त्व का तात्पर्य है कि वह न तो जड़ है और न प्रत्यय और न ही दोनों। इस प्रकार तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त चार हैं— भौतिकवाद, प्रत्ययवाद, द्वैतवाद तथा अनुभयवाद। ये सभी सिद्धान्त मूलतत्त्व के स्वरूप को ही निर्धारित नहीं करते हैं, बल्कि उनकी संख्या भी बतलाते हैं। भौतिकवाद के अनुसार मूलतत्त्व की संख्या एक, चार या अनेक हो सकती है। प्रत्ययवाद भी एक या अनेक संख्या की बात करता है। द्वैतवाद दो, तो अनुभयवाद असंख्य संख्या की गिनती करता है। संख्या की दृष्टि से तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त तीन होते हैं— एकवाद, द्वैतवाद और अनेकवाद। द्वैतवाद स्वरूप और संख्या दोनों दृष्टिकोण से स्थापित है। अतः वास्तव में तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त छः हैं। इनमें भी भौतिकवाद और प्रत्ययवाद ही मौलिक सिद्धान्त हैं। भारतीय दर्शन के परिपेक्ष्य में भाषाविश्लेषण का तात्त्विक आधार प्रत्ययवाद को ही मांना जा सकता है।

परमसत्ता या मूलसत्ता जड़ हो या प्रत्यय या दोनों या अनुभय, परन्तु जब तक इन्हें जाना न जाय, तब तक इनके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। भौतिक वस्तु है या नहीं, उसकी स्वतंत्र सत्ता है या नहीं— इन सबकी विवेचना ज्ञानमीमांसा में होती है। यह पाश्चात्य दर्शन का विचार है, और इनकी विवेचना के लिए वस्तुवाद और प्रत्ययवाद नामक दो ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। ये सिद्धान्त ज्ञाता और वस्तु के संबंध को स्थापित करते हैं। पाश्चात्य दर्शन ज्ञान के स्रोत के रूप में भी दो (अन्य) ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है— बुद्धिवाद और अनुभववाद। बुद्धिवाद की परिणति प्रत्ययवाद में होती है, और अनुभववाद की परिणति वस्तुवाद में। अतएव मूलरूप में ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त दो ही हैं— वस्तुवाद और प्रत्ययवाद। भारतीय दर्शन में ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। सत्ता की दृष्टि से पहले तत्त्वमीमांसा है, तो ज्ञान की दृष्टि से पहले ज्ञानमीमांसा है। दोनों परस्पराश्रित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय भाषाविश्लेषण की दृष्टि से तत्त्वमीमांसीय—ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में दो ही सिद्धान्त प्रमुख हैं— प्रत्ययवाद एवं वस्तुवाद। प्रत्ययवाद के प्रबल समर्थक बौद्ध दर्शन तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन हैं, जबकि न्याय दर्शन तथा मीमांसा दर्शन वस्तुवाद के समर्थक हैं। बौद्ध दर्शन में भी दो प्रकार के प्रत्ययवादी स्वरूप हैं— नागार्जुन का शून्यवाद तथा असंग-वसुबन्धु का विज्ञानवाद। मीमांसा दर्शन में भी मुख्यतः दो प्रकार के वस्तुवादी स्वरूप हैं— प्रभाकर का वस्तुवाद तथा कुमारिल का वस्तुवाद। बौद्ध दर्शन में भी वस्तुवाद के दो स्वरूप पाये जाते हैं— वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। बौद्ध प्रत्ययवाद के अनुसार मूल सत्ता या तो शून्य (नागार्जुन) है या विज्ञान मात्र (असंग-वसुबन्धु)। नागार्जुन के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ स्वभावशून्य (निःस्वभाव) हैं। किसी वस्तु के संबंध में 'है, नहीं है, है और नहीं है दोनों, न है और न नहीं है दोनों' नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में, वस्तुएँ चतुष्कोटिमुक्त होने के कारण 'शून्य' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। सम्पूर्ण संसार शून्य है, और शून्य की परिभाषा और उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अनिर्वचनीय है। नागार्जुन के अनुसार भाषा भी अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह वास्तविक रूप में 'शून्य' है। शून्य का अर्थ अभाव या रिक्तता से नहीं है, वरन 'तथता' से है। भाषा का वास्तविक स्वरूप 'तथत' है। इसे समझना आसान नहीं है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति दैनिक जीवन में भाषा का प्रयोग करता है। नागार्जुन ने दो प्रकार के सत्य की कल्पना की— परमार्थ एवं संवृत्ति। परमार्थ सत्य शून्य या तथता है। यह वास्तविक सत्य है। संवृत्ति सत्य सांसारिक है जो वास्तविक नहीं है। दैनिक जीवन में प्रयुक्त भाषा संवृत्तिसत्य की कोटि में आती है। असंग-वसुबन्धु के अनुसार समस्त संसार विज्ञानों का प्रवाह मात्र है, यह सातत्य प्रवाह है। भाषा भी इसी प्रवाह का अंग है। इस दृष्टि से भाषा में निरन्तरता पायी जाती है। असंग-वसुबन्धु ने विज्ञान को परमसत्ता माना है। सभी विज्ञानों का आधार आलय विज्ञान माना गया है। वस्तुतः आलय विज्ञान ही मूल या परम तत्त्व है। इसी विज्ञान से निःसृत भाषा विज्ञान है। अद्वैत वेदान्त का प्रत्ययवाद ब्रह्म को एकमात्र सत्य सत्ता मानता है और समस्त संसार को ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकारता है। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है जो सत्य, अव्याघाती, पूर्ण, निरपेक्ष, निराकार, निर्गुण, अद्वितीय, अभेद और एक है। संसार व्यावहारिक सत्ता है जो अनेक व्याघातों से भरा है। इसलिए संसार को मिथ्या कहा गया है। हम भाषा का प्रयोग संसार में ही करते हैं। अतएव शंकर की दृष्टि में भाषा भी मिथ्या या व्यावहारिक है। किन्तु भाषा केवल व्यावहारिक नहीं है। सत्य भाषा तो ब्रह्म मात्र है जिसे भर्तृहरि जैसे वेदान्तियों ने शब्दब्रह्म की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि प्रत्ययवाद चाहे बौद्ध दर्शन का हो या अद्वैत वेदान्त का; वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी गयी है। वस्तुएँ परम सत्ता के अधीन मानकर उन्हें भी 'प्रत्यय' मात्र ही बतलाया गया है। परन्तु वस्तुवाद के अनुसार वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व है। परम सत्ता चाहे जड़ हो या प्रत्यय, वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व उससे पृथक है। बौद्ध दर्शन का वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय भी इसे स्वीकारते हैं। अतः बौद्ध वस्तुवाद के साथ-साथ न्याय और मीमांसा का वस्तुवाद भी भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारते हुए उसे पूर्णरूपेण स्वाधीन और सत्य मानता है। हम जिस भाषा का प्रयोग दैनिक जीवन में करते हैं, वह पूर्ण वास्तविक और सत्य है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अंतर्गत भाषाविश्लेषण के दो प्रमुख तात्त्विक आधार होने से भाषाविश्लेषण के दो स्वरूपों का भी निर्धारण होता है। किन्तु भारतीय भाषाविश्लेषण के प्रथम दार्शनिक प्रस्तोता के रूप में भर्तृहरि को सर्वमान्य स्वीकृति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मिली हुई हैं। भर्तृहरि ब्रह्मवाद के समर्थक हैं। (वस्तुतः भर्तृहरि अद्वैत वेदान्त के प्रवर्त्तक आदि शंकराचार्य से पूर्व हुए। इसलिए उन्हें अद्वैत वेदान्त का समर्थक नहीं, वरन अद्वैत वेदान्त के पूर्वाभास के रूप में उनके दर्शन को देखा जा सकता है। किन्तु उन पर उपनिषदों के ब्रह्मवाद का पूर्ण प्रभाव है। अतः उन्हें अद्वैतवादी न कहकर ब्रह्मवादी कहना अधिक उपयुक्त है। ऐसा ब्रह्मवाद जिसमें अद्वैत का बीज है।) अतएव उन्होंने भाषाविश्लेषण का तात्त्विक आधारं औपनिषदिक ब्रह्मवाद को ही माना है। न केवल भर्तृहरि वरन प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक विश्लेषकों ने भाषाविश्लेषण के तत्त्वमीमांसीय आधार के रूप में ब्रह्मवाद को ही मान्यता दी है। यही कारण है कि ऋग्वेद में उल्लिखित वाक् के चार स्तरों को ब्रह्म के चार स्तरों से तादात्म्य किया जाता है। ब्रह्म के चार स्तर हैं— परब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट या वैश्वानर। विराट या वैश्वानर ब्रह्म की अभिव्यक्त अवस्था है जिसे विश्व कहा जाता है। विश्व का गर्भस्थ स्थल हिरण्यगर्भ है, जिसमें विश्व अण्डकोश के रूप में पाया जाता है। इस अण्डकोश की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा होती है। ईश्वर ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है। ब्रह्म की ये तीन अवस्थाएँ या स्तर व्यावहारिक हैं। परन्तु परब्रह्म सृष्टि-स्थिति-प्रलय से परे निराकार, पूर्ण, एक और अद्वितीय अवस्था है जो पारमार्थिक सत्ता के नाम से जाना जाता है।

वाक् के चार स्तर

ऋग्वेद में वाक् के चार स्तर बतलाये गये हैं— परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी। इनमें से मनुष्य केवल बैखरी को अच्छी तरह जान सकता है। बैखरी साधारण या बोलचाल की भाषा है, जिसका प्रयोग हम प्रतिदिन करते हैं। यह स्थूल भाषा या शब्द है जो किसी-न-किसी स्थूल या सांसारिक (भौतिक) वस्तु को निर्देश या सूचित करता है। यह श्रौत इन्द्रिय का विषय है और इसका स्थान कंठ तथा तालु के मध्य पाया जाता है। यह उसी तरह से व्यावहारिक भाषा है जिस तरह से विराट (विश्व) व्यावहारिक सत्ता है। विश्व दृश्य है, तो बैखरी श्रव्य है। मध्यमा का स्थान हृदय-प्रदेश है। यह प्रेम और भक्ति की भाषा है। यह अनुभूति की अभिव्यक्ति मात्र है जिसे शब्दों में बयां करना संभव नहीं है। यह मूक भाषा है। यह आन्तरिक भाषा होने से श्रव्य नहीं है। इसलिए इसे अनुभूति की भाषा कही जाती है। यह बैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म और बौद्धिक होती है। पश्यन्ति मध्यमा से भी अधिक सूक्ष्म होती है। इसका स्थान नाभि प्रदेश है। इस भाषा (वाक्) को योगी ही जान सकता है। साधारण व्यक्ति के लिए यह अनभिज्ञ होता है। यह गूढ़ भाषा है, अलौकिक या आध्यात्मिक भाषा है। परा भी आध्यात्मिक भाषा है। लेकिन यह सूक्ष्मतम एवं इतना गूढ़ होता है कि इसे योगी भी नहीं जान सकता। इसलिए इसे पारमार्थिक और अनिर्वचनीय कहा जाता है। इसका स्थान गुदामार्ग के नीचे है। इसलिए यह अव्यक्त है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि मनुष्य केवल बैखरी को जान सकता है, समझ सकता है, बोल सकता है। शेष वाक् (मध्यमा, पश्यन्ति और परा) गुफा में छिपा रहता है अर्थात् मनुष्य उन्हें न तो जान-समझ सकता है, न ही बोल सकता है।[20] परब्रह्म, ईश्वर और हिरण्यगर्भ को भी जानना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। परब्रह्म के विषय में तो साधक भी कुछ नहीं कह सकता। ईश्वर को भी अत्यल्प लोग ही जान पाते हैं। रामकृष्ण परमहंस जैसे विरले व्यक्ति ही ईश्वर का साक्षात्कार कर पाते हैं और हिरण्यगर्भ को भी जानना संभव नहीं है। विश्व के

---

20. ऋग्वेद, 1.164.45

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष के आधार पर उसकी अनुभूति हो सकती है। विश्व या वैश्वानर को छोड़कर सभी सत्ताएँ अदृश्य हैं। यही कारण है कि वाक् (भाषा) को ब्रह्म की संज्ञा दी जाती है। ब्रह्मवाद ब्रह्म (आत्मा) की चार अवस्थाओं का भी उल्लेख करता है— तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत। विश्व या विराट जाग्रत अवस्था है जिसका प्रत्यक्ष सभी व्यक्तियों को होता है। बैखरी वाक् की जाग्रत अवस्था है जिसे सभी व्यक्ति सुन-समझ सकते हैं। ब्रह्म की स्वप्न अवस्था हिरण्यगर्भ के समान है। हिरण्यगर्भ स्वप्नावस्था सदृश्य है, क्योंकि स्वप्न की अनुभूति मानसिक स्तर तक होती है, उसका बाह्य प्रकटन नहीं होता। इसी तरह मध्यमा वाक् का बाह्य प्रकटन नहीं होता है, बल्कि हृदय और मन के स्तर पर उसकी अनुभूति होती है। सुषुप्ति की अवस्था ईश्वर-सदृश्य है। विराट या जाग्रत अवस्था ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय का साक्षात् प्रत्यक्ष कराती है। बैखरी द्वारा ही व्यक्त रूप में मनुष्य भाषा से परिचित होता है। इसलिए विराट और बैखरी सद्रूप कहा जाता है। सद्रूप अर्थात् सत् + रूप। सत् (परम सत्ता) का जो रूप (आकार) हो, वही सद्रूप कहलाता है। परमसत्ता या सत् तो केवल ब्रह्म मात्र है, जिसे परब्रह्म कहा जाता है। परब्रह्म ब्रह्म की तुरीय अवस्था है। इसी प्रकार परा वाक् ही शब्दब्रह्म है जो अपनी तुरीय अवस्था में परम सत्ता है। वह एकमात्र सत् सत्ता है। हिरण्यगर्भ ज्ञानरूप है। ज्ञान मानसिक और अमूर्त्त होता है। स्वप्न भी मानसिक और अमूर्त्त है। मध्यमा वाक् भी अमूर्त्त और मानसिक है। ईश्वर को आनन्द रूप बतलाया गया है। सुषुप्ति की अवस्था आनन्द की अवस्था है। ईश्वर का साक्षात्कार अत्यल्प को ही हो सकता है। पश्यन्ति वाक् को जान लेना भी आनन्द की अनुभूति है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वाक् के चार स्तर ब्रह्म या आत्मा के चार स्तरों के समान है। अतः वाक् या भाषा का स्वरूप तात्त्विक है। वस्तुतः वाक् या भाषा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तभी तो हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि वाक् (भाषा) निराकार और निःशब्द होता है जिसे परब्रह्म या परमात्मा के नाम से जाना जाता है।[21] भागवतपुराण में भी शब्द (वाक्, भाषा) को ईश्वर कहा गया है और उसे समुद्र के समान गहरा, असीम और अनन्त बतलाया गया है जिसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है।[22] महाभारत के अनुसार वह व्यक्ति परम सत्ता के पद को प्राप्त कर पाता है जिसने भाषा का सही-सही प्रयोग किया है।[23] तात्पर्य यह है कि शुद्ध और सही उच्चारणयुक्त भाषा परमसत्ता का दर्शन कराती है, अर्थात् भाषा परमसत्ता ही है। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वाक् (भाषा) ही सर्वोच्च सत्ता है। विश्व में पाये जाने वाले सभी मनुष्य, पशु और देवता इसी सर्वोच्च सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र हैं।[24] पूर्णानन्द स्वामी के अनुसार सर्वोच्च या परम चेतना ही वाक् द्वारा अभिव्यक्त होती है जो सर्व-अस्तित्ववान और निरवयव है। वस्तुतः संसार का बीज, जिसे तंत्र दर्शन में बिन्दु कहा जाता है, की उत्पत्ति सृजनशील ध्वनि (जिसे नाद कहा जाता है) से होती है।[25] स्पष्ट है कि भारतीय भाषाविश्लेषण के अंतर्गत वाक् को भाष्विक नहीं, वरन् तात्त्विक माना गया है। भाष्विक भाषा केवल बैखरी है। वह वाचक-वाच्य भाव में रहकर व्यक्त है। किन्तु उसका आधार तात्त्विक भाषा है जो मध्यमा, पश्यन्ति और परा के रूप में अव्यक्त है।

---

21. हठयोग प्रदीपिका, 4.101.2
22. भागवतपुराण, 1.2.
23. महाभारत, शान्ति पर्व, 270
24. अथर्ववेद, 10.8.33
25. पूर्णानन्द स्वामी, षट्चक्र निरूपण, उद्धृत प्रो॰ हरिमोहन झा, ट्रेन्ड्स ऑफ लिंग्विस्टिक एनालासिस इन इंडियन फिलॉसफी, पृ॰ 5

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तंत्र दर्शन में वाक् के इन स्तरों का आधार 'चक्र' बतलाया गया है। साधारणतः छः प्रकार के चक्रों की कल्पना की गयी है। वे चक्र हैं— मूलाधार, मणिपुर, स्वाधिष्ठान, अनहत, विशुद्ध और अज्ञ। इन चक्रों का स्थान क्रमशः गुदामार्ग, हृदय, कंठ, नेत्र-भौहों के मध्य और सुषुम्ना नाड़ी है। सुषुम्ना के अतिरिक्त इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियाँ पायी जाती हैं, जिनका तंत्र दर्शन में विस्तार से वर्णन हुआ हैं। ये नाड़ियाँ कुंडलिनी में अवस्थित रहती हैं। कुंडलिनी द्वारा ही वाक् की अभिव्यक्ति होती है। षट्चक्र निरूपण में कहा गया है कि वर्ण (अक्षर) के रूप में जिस ध्वनि का उच्चारण होता है, वह मूलाधार चक्र से उत्पन्न होनेवाली दीर्घकालीन प्रक्रिया का परिणाम है। मूलाधार चक्र से उत्पन्न यह ध्वनि धीरे-धीरे प्राणवायु द्वारा विशुद्ध चक्र तक तबतक जाती है, जबतक बैखरी वाक् या वर्ण की उत्पत्ति नहीं हो जाती है।[26] तात्पर्य यह है कि वाक् या भाषा का स्रोत मूलाधार चक्र है। इसी चक्र में कुंडलिनी पायी जाती है। सर जॉन वुड्रॉफ ने अपनी पुस्तक ''द सरपेन्ट पावर'' में लिखा है कि ''परावाक् का स्थान मूलाधार चक्र है, जहाँ कुंडलिनी पायी जाती है। स्वाधिष्ठान चक्र नाभि स्थल में पाया जाता है जो पश्यन्ति का स्थान है। अनहत चक्र हृदय प्रदेश में अवस्थित है जो मध्यमा का स्थान है। विशुद्ध चक्र कंठ में अवस्थित है जो बैखरी का स्थान है। ये सभी चक्र मेरूदंड के भिन्न-भिन्न हिस्सों में अवस्थित हैं।''[27] मेरूदंड एक है। वाक् भी एक है। मेरूदंड के विभिन्न हिस्से वाक् के विभिन्न स्तरों का आधार हैं। इससे भी यह बात स्पष्ट होती है कि वाक् मूलतः एक है, लेकिन हम अपनी सुविधा के लिए उसे विभिन्न स्तरों में विभाजित करते हैं। महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज के शब्दों में, ''पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी क्रमशः प्रणव के 'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार हैं। ये अखंड परावाक् या तुरीय वाक् का ही त्रिविध परिणाम मात्र हैं। ये तीन प्रकार के शब्द (सृष्टि, स्थिति और संहाररूप), तीन प्रकार के व्यापार (वामा, ज्येष्ठा और रौद्री क्रिया), तीन प्रकार के शिव-अंश (ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र रूप), अथवा, तीन प्रकार के शक्ति-अंश (इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप) के प्रतिनिधियाँ हैं।''[28]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन के अंतर्गत भाषाविश्लेषण की जो व्याख्या की गयी है, उसे समझने के लिए उसके तात्त्विक आधार को जानना आवश्यक है। भारतीय भाषाविश्लेषण विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा पर आधारित है। इस अध्याय में वाक् के चार स्तरों की व्याख्या उपनिषद् एवं तंत्र दर्शन की तत्त्वमीमांसा के आधार पर की गयी हैं। आगे के अध्यायों में यथासाध्य यथोचित स्थान पर भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के भाषाविश्लेषण का उल्लेख करते हुए उनकी तत्त्वमीमांसीय आधार को भी बतलाने का प्रयास किया जायेगा।

---

26. वही, पृ० 9
27. वही, पृ० 8-9
28. महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० 74-75

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तृतीय अध्याय

भाषा की इकाई

भाषा अमूर्त्त है। उसका मूर्त्तरूप ध्वनि या बोली द्वारा अभिव्यक्त होता है। ध्वनि या बोली शब्दों के उच्चारण मात्र हैं। शब्दों से वाक्य बनते हैं। शब्द अक्षरों से बनते हैं। स्पष्ट है कि भाषा अपने-आप में कुछ भी नहीं है, वरन् यह अक्षरों, शब्दों और वाक्यों का समुच्चय मात्र है। परन्तु यह प्रश्न विवादास्पद है कि भाषा की इकाई क्या है— अक्षर (वर्ण), शब्द (पद) या वाक्य। इकाई वही होती है जिसके द्वारा यौगिक पदों का निर्माण होता है, और जिससे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यदि अक्षर से अर्थ की अभिव्यक्ति हो, तो उसे ही भाषा की इकाई मानना चाहिए अन्यथा नहीं। इस संदर्भ में भारतीय भाषा विश्लेषण के अंतर्गत तीन प्रकार के सिद्धान्त पाये जाते हैं— वर्णवाद, पदवाद तथा वाक्यवाद। मीमांसा दर्शन वर्णवाद का समर्थक है, तो न्याय दर्शन पदवाद और व्याकरण दर्शन वाक्यवाद के समर्थक हैं।

वर्णवाद—वर्णवाद के अनुसार भाषा की मूल इकाई वर्ण या अक्षर है। शबरस्वामी, जिसने जैमिनी के मीमांसासूत्र पर भाष्य लिखा है, ने अपने भाष्य (जिसे शाबरभाष्य कहते है) में 'गाय' का उदाहरण लेकर बतलाया है कि गाय या गौ शब्द वर्णों या अक्षरों का समूह मात्र है और कुछ भी नहीं। गाय में ग् + अ् + आ + य् + अ् स्वर वर्ण तथा व्यंजन वर्ण दोनों संयुक्त हैं। इसी तरह ग + औ भी एक व्यंजन तथा एक स्वर वर्ण से बने हैं। क़लम, पुस्तक, कुर्सी आदि जितने भी शब्द हैं, वे सभी स्वर और व्यंजन वर्णों के मेल से ही बने हैं। अतएव वर्ण ही शब्द एवं वाक्य अर्थात् भाषा की इकाई है। वाक्य शब्दों से बनते हैं और शब्द अक्षरों या वर्णों के मिलने से बनते हैं। अतएव अक्षर या वर्ण ही वह मूल इकाई है जो शब्द और वाक्य को अर्थ प्रदान करता है। मूल इकाई होने के कारण वर्ण अविभाज्य होता है। **शब्दार्थ रत्नाकर** में कहा गया है कि शब्द और वाक्य सावयव होते हैं, जबकि वर्ण या अक्षर निरवयव या अखंड होते हैं।[29] शब्द और वाक्य के अवयव वर्ण या अक्षर ही होते हैं। इसलिए शब्द और वाक्य विभाज्य होते हैं। 'जो विभाज्य या खंडित होता है, उसे इकाई नहीं माना जा सकता। दूसरी बात, यदि वर्ण या अक्षर नहीं हो, तो शब्द और वाक्य का कोई अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णों के बिना शब्दों या वाक्यों के नहीं होने से अर्थवान पद या वाक्य का अस्तित्व ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में शब्दों या वाक्यों में निहित अर्थ वर्णों द्वारा ही प्रदत्त होते हैं। मीमांसकों का यह विचार ऋग्वेद में भी मौजूद है। ऋग्वेद के अनुसार, ''ऋचाएँ अक्षर में ही निवास करती हैं। देवता अक्षर

29. प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰, 14

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में ही रहते हैं। जो अक्षर को नहीं जानता, उसके लिए ऋचा की भला क्या उपयोगिता?''[30] तात्पर्य यह है कि ऋचा के मर्म (रहस्य) को समझने के लिए अक्षर या वर्ण के मर्म (रहस्य) को समझना आवश्यक है। महाभाष्यकार पतंजलि का भी मानना है कि ''वर्णों का ज्ञान ही वाणी का विषय है जहाँ ब्रह्म (अर्थात् वेद) विद्यमान है। उसी वर्ण के ज्ञान के लिए, इष्ट बुद्धि के लिए तथा संक्षिप्त अर्थ के लिए व्याकरणशास्त्र का उपदेश किया जाता है।''[31] पतंजलि के ये शब्द स्पष्ट करते हैं कि वर्ण ही शब्द एवं शब्दार्थ का आधार है। प्रत्येक वर्ण के अर्थ होते हैं। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में बतलाया है कि ''क का अर्थ कमनीय सुख, ब्रह्म (ईश्वर), ग का अर्थ सूक्ष्म दहन, गति है।''[32] छांदोग्य उपनिषद में 'सत्य' पद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ''सत्य में तीन अक्षर हैं— स, ति और यम्। स का अर्थ अमृत, ति का अर्थ मर्त्य तथा यम् का अर्थ अमृत और मर्त्य का नियामक है। ईश्वर देवलोक और मर्त्यलोक का नियामक होने से सत्य कहलाता है।''[33] गोपथ ब्राह्मण में 'भर्ग' शब्द को ईश्वर का वाचक माना गया है। भर्ग में तीन अक्षर हैं— भ, र और ग। भ का अर्थ दीप्ति, र का अर्थ रंजन करनेवाला, ग का अर्थ गमन है। चूँकि ईश्वर सभी लोकों (देवलोक-मर्त्यलोक आदि) को भासित करता है, रंजित करता है और गति प्रदान करता है, इसलिए उसे भर्ग कहा जाता है।[34] इसी प्रकार 'नाक' शब्द का अर्थ ''न अकः'' है। अक का अर्थ सुख का अभाव है। न अकः अर्थात् नाक का अर्थ सुख के अभाव का नहीं होना है। न का अर्थ 'नहीं' है। जहाँ सुख के अभाव का अभाव होता है, वहाँ आनन्द ही आनन्द होता है। इसलिए, नाक का अर्थ स्वर्ग है। तात्पर्य यह है कि वर्ण या अक्षर निरर्थक नहीं होते हैं। इसलिए वर्ण को भाषा की इकाई मानना असंगत नहीं है। पतंजलि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि समस्त वर्ण अर्थवान है— अर्थवन्तो वर्णाः।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीमांसकों के वर्णवाद का बीज वैदिक ग्रंथों, निरूक्त एवं महाभाष्य में निहित है। निरुक्त एवं महाभाष्य में तो स्पष्ट रूप से वर्ण की सार्थकता और उसके महत्व को उजागर किया गया है। वैदिक ग्रंथों में वर्ण के तात्त्विक आधार और महत्व पर बल प्रदान किया गया है।

पदवाद—पदवाद के अनुसार अकेला एक वर्ण द्वारा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता है, अर्थ की अभिव्यक्ति पद द्वारा होती है। यह ठीक है कि पद या शब्द अक्षरों से बनते हैं। लेकिन किसी शब्द या पद में प्रयुक्त अक्षर का अलग से कोई अर्थ नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'गौ' शब्द लिया जाय। ग + औ इन दो अक्षरों से गौ बना है। गौ का अर्थ गाय है। लेकिन ग या औ का अर्थ गाय नहीं होता। नैयायिकों की दृष्टि में ग या औ अलग से या अकेला निरर्थक है। निरूक्त में 'ग' का अर्थ सूक्ष्म दहन और गति बतलाया गया है, जबकि औ एक स्वर वर्ण होने से अर्थहीन है या इसका प्रयोग प्रत्यय के रूप में किया जा सकता है। किन्तु गाय के संदर्भ में ग और औ दोनों ही अर्थहीन हैं। अतएव गौ का अर्थ

30. ऋग्वेद, 1.164.39
31. पतंजलि, महाभाष्य, 1.12
32. यास्क, निरूक्त, दैवत काण्ड, 1.4
33. छांदोग्य उपनिषद, 8.3.5
34. डॉ॰ विजयपाल शास्त्री, भारतीय भाषा दर्शन पृ॰ 15

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रदान करने की शक्ति न तो ग में है, न ही औ में। यही कारण है कि न्याय दर्शन में वर्णों के समूह अर्थात् शब्द को भाषा की इकाई मानी गयी है। वर्णों का समुच्चय हमेशा अर्थ प्रदान नहीं कर पाता है। जैसे— गौ का अर्थ होता है, घट का अर्थ होता है, मेज का अर्थ होता है। परन्तु औग, टघ, शब्द का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार वर्णों का समुच्चय निरर्थक और सार्थक दो प्रकार के होते हैं। भाषा की इकाई केवल सार्थक शब्द ही हो सकते हैं। वस्तुतः दर्शन की दृष्टि से शब्द का तात्पर्य सार्थक शब्द ही होता है, निरर्थक नहीं। यही कारण है कि नैयायिकों ने शब्द या पद को भाषा की इकाई माना है। भाषा की इकाई वही हो सकती है जो अर्थ अभिव्यक्त करने में सक्षम हो। किसी भी शब्द या पद में प्रयुक्त एक-एक वर्ण या अक्षर अर्थ अभिव्यक्त नहीं कर पाता है और न ही एक साथ मिलकर भी अर्थ अभिव्यक्त कर पाता है। इसलिए कैयट ने कहा है कि वर्ण या अक्षर स्वतंत्ररूप से वाचक या सार्थक नहीं होते हैं।[35] यदि वर्ण से ही अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाय, तो दूसरे वर्ण की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यदि पद या शब्द में प्रयुक्त प्रथम वर्ण सार्थक है, तो दूसरा वर्ण अनावश्यक है। यदि प्रथम वर्ण सार्थक नहीं है और उसकी सार्थकता के लिए अन्य वर्णों की आवश्यकता है, तो इससे स्पष्ट होता है कि कोई भी वर्ण स्वतंत्र रूप से अर्थवान नहीं हो सकता, बल्कि शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए एक वर्ण को दूसरे वर्ण की अपेक्षा होती है। इसी अपेक्षा से अर्थ की अभिव्यक्ति होने के कारण शब्द या पद को भाषा की इकाई माना गया है।

दूसरी बात, जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उस पद या शब्द में प्रयुक्त पहले वर्ण का उच्चारण करने के बाद दूसरे वर्ण का, फिर तीसरे, चौथे, पाँचवें .... आदि वर्ण का उच्चारण होता है। उदाहरण के लिए कलम, पुस्तकालय आदि। कलम का उच्चारण करने के लिए पहले क, फिर ल और फिर म का उच्चारण होता है। क का उच्चारण ल के उच्चारण के साथ ही समाप्त हो जाता है और म का उच्चारण करते ही ल का उच्चारण समाप्त होता है। इसी प्रकार पुस्तकालय के उच्चारण के क्रम में प,उ, स्, त, क, आ, ल और य वर्णों का उच्चारण क्रमशः एक के बाद दूसरा होता है और पहला क्रमशः समाप्त होता जाता है। ऐसी स्थिति में शब्द या पद का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है, क्योंकि शब्द में प्रयुक्त कोई वर्ण रहता ही नहीं है। वर्णों के नहीं रहने से शब्द अर्थवान नहीं हो पाता है। फिर भी वर्ण भाषा की इकाई नहीं है। शब्द की अर्थवत्ता पदों के समुदाय पर निर्भर करती है। कोई भी पद या शब्द वर्णों का समुच्चय अवश्य होता है, पर वह किसी विभक्ति (प्रत्यय) से युक्त होता है, तभी अर्थ प्रदान कर पाता है। ''पाणिनी शिक्षा'' में कहा गया है कि पद अर्थ (भाषा) की इकाई है। पद वह शब्द है जो किसी-न-किसी विभक्ति में समाप्त होता है।''[36] उदाहरण के लिए 'गौ' कर्त्ता कारक है और 'गच्छति' वर्तमान काल की क्रिया है। गच्छति 'गम्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने से बनता है। कारक और प्रत्यय दोनों विभक्तियाँ कहलाती हैं। 'गम्'क्रिया या धातु पद कहलाता है।

35. डॉ॰ वी॰ कृष्णास्वामी आयंगार, उपर्युक्त, पृ॰ 102-3

36. सुप्तिनान्तम् पदम्— पाणिनी शिक्षा, 1.4.14

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार प्रत्येक शब्द के मूल में प्रकृति (क्रिया) होती है। अतएव शब्द मात्र वर्णसमुदाय नहीं है, वरन् एक निश्चित अर्थ प्रदान करनेवाला पद है। अर्थ प्रदान करने की शक्ति प्रकृति और विभक्ति में निहित रहती है, न कि वर्णों में। यही कारण है कि कैयट ने स्पष्ट शब्दों में वर्णसमुदाय का निषेध किया है[37]। उनके अनुसार वर्ण के विषय में दो पक्ष हैं— एक पक्ष के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति होती है, दूसरे पक्ष के अनुसार वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। उत्पत्ति पक्ष का मानना है कि वर्ण क्रम से उत्पन्न होते हैं। इसका तात्पर्य है कि एक समय में एक ही वर्ण उत्पन्न हो सकता है, सभी वर्ण नहीं। फलतः वर्णसमुदाय असंभव है। अभिव्यक्ति पक्ष के अनुसार वर्णों का उच्चारण ध्वनियों द्वारा होता है। एक वर्ण की ध्वनि के साथ-साथ दूसरे वर्ण की ध्वनि उच्चरित नहीं होती। तात्पर्य यह है कि ध्वनि का भी क्रम से उच्चारण होता है। फलतः वर्णों की अभिव्यक्ति क्रमशः होती है। अतः वर्णसमुदाय की कल्पना ही असंभव है। दूसरे शब्दों में, शब्द वर्णसमुदाय नहीं है, बल्कि प्रकृति और विभक्ति की इकाई मात्र है। इसलिए नैयायिकों ने पद को ही भाषा की इकाई माना है, न कि वर्ण को।

वाक्यवाद—वाक्यवाद के अनुसार भाषा की इकाई वाक्य है, न कि वर्ण या पद। भर्तृहरि की मान्यता है कि वर्णों या शब्दों का वाक्य से पृथ्क कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वर्ण और शब्द अपनी सार्थकता वाक्य द्वारा ही प्राप्त करते हैं। इसलिए वाक्य ही भाषा की एकमात्र वास्तविक इकाई है।[38] ''गाय चरती है'' वाक्य का अर्थ इकाई रूप में ही प्राप्त होता है, न कि अलग-अलग वर्णों (ग, आ, य, च, र, त, ई, ह, ऐ) या अलग-अलग शब्दों (गाय, चरती, है) के रूप में। वाक्य का शब्दों में और शब्दों का अक्षरों या वर्णों में विभाजन कृत्रिम है। वाक्य को समझने के लिए उसे वर्णों या शब्दों में विभक्त किया जाता है, किन्तु वास्तविकता है कि वाक्य मात्र एक और इकाई स्वरूप है, वह सावयव नहीं है। इसलिए वाक्यवादियों ने वाक्य को अविभाज्य माना है। वस्तुतः वाक्यवाद का तात्त्विक आधार ब्रह्मवाद है। जिस प्रकार ब्रह्मवाद में ब्रह्म को एकमात्र सत्य सत्ता माना गया है और ब्रह्म से संसार एवं जीव का एकत्व दिखलाया गया है, ठीक उसी प्रकार वाक्यवाद भी वाक्य को ही एकमात्र सत्य मानकर वर्णों एवं शब्दों का एकत्व वाक्य में ही निहित मानता है। जगत एवं जीव ब्रह्म का विवर्त्त है, ठीक उसी तरह वर्ण और शब्द भी वाक्य का विवर्त्तमात्र है। इसलिए **सुबोधिनी टीका** में वर्ण और शब्द को अवयवाभास कहा गया है। वस्तुतः वाक्य एक, पूर्ण, निरवयव है। फिर भी वाक्य को समझने के लिए पहले वर्ण और शब्द को समझना आवश्यक है, अन्यथा वाक्य की सार्थकता नहीं समझी जा सकती। ब्रह्म को समझने के लिए पहले जगत और जीव की व्याख्या आवश्यक है, भले ही जगत और जीव अध्यास या विवर्त्त मात्र हो। जगत और जीव का व्यावहारिक महत्व है। इसी प्रकार वर्ण और शब्द का व्यावहारिक महत्व है। व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य का खंडन संभव माना गया है, न कि पारमार्थिक दृष्टि से। अतः वाक्य व्यावहारिक रूप में सखंड है और पारमार्थिक रूप में अखंड है। सखंड वाक्य द्वारा ही अखंड वाक्य तक पहुँचा जा

---

37. डॉ॰ वी॰ कृष्णास्वामी आयंगार, उपर्युक्त, पृ॰ 104-5
38. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1.73.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। सखंड वाक्य अवास्तविक या मिथ्या है, तो अखंड वाक्य वास्तविक है। सखंड-अखंड का भेद पारमार्थिक वाक्य को समझने के लिए आवश्यक है।[39] पारमार्थिक वाक्य अर्थात् अखंड वाक्य ही भाषा की इकाई है। वाक्यपदीय में कहा गया है कि ''शब्द अर्थात् वाक्य एक अद्वैत तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न शक्तियों से समन्वित होकर अनेक रूपों में भासित होता है। ये शक्तियाँ जन्म, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, क्षय और नाश इन षट् विकारों के रूप में भाव पदार्थ की अनेक दशाओं का कारण बन जाती हैं। कालशक्ति से प्रभावित होकर शब्दब्रह्म की शक्तियाँ समस्त पदार्थों की उक्त छः अवस्थाओं का नियमन करती हैं। शब्दब्रह्म नित्य है। वाक्य को ही शब्दब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। उसे भोक्ता, भोग्य और भोग कहा गया है। वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन सब कुछ है। किन्तु लोक व्यवहार के लिए उसे कर्त्ता, कर्म और करण कह दिया जाता है।''[40] स्पष्ट है कि वाक्य के अतिरिक्त वर्ण और शब्द का कोई अस्तित्व नहीं है। सब कुछ वाक्य में ही समाया हुआ है। वर्ण और शब्द मात्र लोक व्यवहार के लिए हैं। तात्पर्य है कि भाषा की इकाई सिर्फ और सिर्फ वाक्य ही है।

□

---

39. सुबोधिनी टीका, उद्धृत प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 19

40. भर्तृहरि, उपर्युक्त, 1.1-4.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुर्थ अध्याय

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द

'शब्द' पद के विभिन्न अर्थ होते हैं। विस्तृत अर्थ में शब्द ध्वनि मात्र है जिसे श्रौत इन्द्रिय द्वारा सुना जाता है। श्रौत इन्द्रिय दो तरह से ध्वनि को सुनता है— एक मात्र आवाज के रूप में और दूसरा वर्ण-उच्चारण के रूप में। जैसे— ढोलक की थाप-थाप, नगाड़े की नगड़-नगड़, घंटी की ट्रिन-ट्रिन आदि। इस तरह की आवाज को ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। यहाँ मात्र ध्वनि सुनायी पड़ती है। लेकिन क, ख, ग आदि वर्णों के उच्चारण से ध्वनि के साथ-साथ वर्ण भी सुनायी पड़ती है। अतएव ध्वनि के अर्थ में शब्द दो प्रकार की होती है— ध्वन्यात्मक शब्द तथा वर्णात्मक शब्द। वर्णात्मक शब्द दो प्रकार का माना गया है— सार्थक और निरर्थक। जिस वर्णात्मक शब्द का कोई अर्थ होता है, उसे सार्थक कहते हैं। जैसे— घट, गाय आदि। जिस वर्णात्मक शब्द का कोई अर्थ नहीं होता, उसे निरर्थक कहते हैं। जैसे— टघ, यगा आदि।

शब्द का दूसरा अर्थ संकुचित है। इस अर्थ में शब्द वह है जो किसी वस्तु का संकेतक या निर्देशक होता है। जैसे— 'घट' शब्द घड़ा नामक वस्तु की सूचना या निर्देश देता है। इसलिए घट सूचक, निर्देशक या संकेतक है। सार्थक वर्णात्मक शब्द ही इस अर्थ में शब्द है। ऐसे शब्द में अन्तर्निहित शक्तियाँ होती हैं जिनसे ये शब्द वस्तुओं को सूचित या निर्देशित कर पाते हैं। शब्द का तीसरा अर्थ अत्यन्त संकुचित है। इस अर्थ में शब्द आप्तवाक्य को कहते हैं। आप्तवाक्य आप्त कथन है जो किसी विश्वसनीय और प्रामाणिक व्यक्ति का कथन होता है। जैसे— ऋषि-मुनियों का कथन।

भारतीय भाषाविश्लेषण की दृष्टि से शब्द का तात्पर्य वर्णात्मक शब्द है, लेकिन निरर्थक नहीं। दर्शन के क्षेत्र में निरर्थक शब्द का प्रयोग नहीं होता है। शब्द का तात्पर्य सार्थक शब्द ही है। न्यांय दर्शन में आप्तवचन को ही शब्द कहा गया है। अतएव भाषाविश्लेषण (न्याय दर्शन के संदर्भ में) आप्तवचन को भी शब्द के रूप में स्वीकृति प्रदान करता है। जहाँ न्याय दर्शन ईश्वरीयं वचन को प्रामाणिक मानता है, वहाँ मीमांसा दर्शन वैदिक वाक्यों या कथनों को प्रामाणिक मानता है। न्याय दर्शन के अनुसार वैदिक कथन ही ईश्वरीय वचन है। अतएव आप्तवाक्य के रूप में शब्द या तो ईश्वर के कथन हैं या वेद के वाक्य हैं। दोनों ही परिस्थितियों में शब्द अर्थवान हैं। अंतएव सार्थक शब्द ही शब्द कहलाता है।

शब्द का दूसरा अर्थ शब्द को पद के रूप में सीमित करता है, तो शब्द का तीसरा अर्थ वाक्य के रूप में शब्द को अभिहित करता है। अतः भारतीय भाषाविश्लेषण के संदर्भ में शब्द का तात्पर्य पद और वाक्य है। शब्द केवल शब्द (word) नहीं है, वह वाक्य (sentence) भी है। पाश्चात्य भाषाविश्लेषण शब्दों के समुच्चय को ही वाक्य मानता है, शब्द को नहीं। लेकिन स्टेविंग की पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न लॉजिक" में एकपदीय वाक्य का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उल्लेख है। अतएव अपवादस्वरूप पाश्चात्य दर्शन में भी शब्द का अर्थ पद और वाक्य दोनों लिया जाता है।

अर्थ—किसी शब्द या पद में निहित शक्ति को अर्थ कहा जाता है। सामान्यतः शब्द या पद वर्णों का समूह होता है। परन्तु प्रत्येक वर्णसमुदाय में शक्ति निहित नहीं होती है। उदाहरण के लिए टघ, यगा, वरलक इत्यादि। इन वर्णसमुदायों अर्थात् शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन घट, गाय, कलरव इत्यादि शब्दों के अर्थ होते हैं। अतएव शब्द वही होता है जिसमें अर्थ अभिव्यक्ति करने की शक्ति है। इस शक्ति को 'वृत्ति' की संज्ञा दी गयी है। इसी वृत्ति के कारण शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध पाया जाता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान शाब्दबोध कहलाता है।

शब्दार्थ सम्बन्ध—भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में मतैक्य नहीं रखते हैं। प्राचीन न्याय दर्शन के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है और शब्द में निहित मुख्य या मूल शक्ति या वृत्ति अजानिक संकेत में पायी जाती है। अजानिक संकेत शब्द का प्राकृतिक अर्थ है। ईश्वरीय इच्छा पर आश्रित अर्थ प्राकृतिक ही हो सकता है। कतिपय प्राचीन नैयायिकों की मान्यता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अविनाभाव सम्बन्ध है। अविनाभाव का तात्पर्य है कि एक के बिना दूसरे का नहीं होना। यदि शब्द नहीं है, तो अर्थ भी नहीं है। इसी प्रकार अर्थ के अभाव में शब्द का भी अभाव होता है। इसलिए शब्दार्थ ईश्वरीय इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। नव्य नैयायिकों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध इच्छा मात्र पर निर्भर करता है, चाहे वह ईश्वर की इच्छा हो या मनुष्य की। शब्द में निहित अर्थ की शक्ति अजानिक संकेत और आधुनिक संकेत दोनों में पायी जाती है। आधुनिक संकेत शब्द के कृत्रिम अर्थ को कहा जाता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, गणितज्ञ किसी शब्द की रचना करते हैं, तो उसमें निहित अर्थ कृत्रिम कहलाता है। पतंजलि ने शब्द और अर्थ को अलग नहीं मानकर उनमें तादात्म्य भाव देखा है। महाभाष्य में कहा गया है कि "जो शब्द है, वही अर्थ है और जो अर्थ है, वही शब्द है।"[41] इस प्रकार पतंजलि की दृष्टि में शब्द वही है जो अर्थवान है। अर्थ में शब्द और शब्द में अर्थ निहित होता है। यही कारण है कि पतंजलि ने शब्द को संकेत मात्र माना है।

प्रभाकर के अनुसार शब्द की मूल शक्ति या वृत्ति दो प्रकार की होती है— आनुभाविक और स्मारिका। आनुभाविक मूल वृत्ति वह है जो शब्द में अर्थ प्रदान करती है। यह वृत्ति प्रत्यक्ष या अनुभव पर आधारित है। स्मारिका मूल वृत्ति वह है जो स्मृतिजन्य वस्तुओं को निर्देशित करती है, अर्थात् स्मृति पर आधारित शब्द वृत्ति स्मारिका कहलाती है। तात्पर्य है कि प्रभाकर किसी शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध अनुभव और स्मृति पर आधारित मानता है। वस्तुतः स्मृति का आधार भी अनुभव है। नास्तिक सम्प्रदाय के अंतर्गत चार्वाक दर्शन ही मात्र अनुभव (प्रत्यक्ष) पर आधारित ज्ञान को सत्य मानता है, लेकिन वह स्मृति को स्वीकार नहीं करता है। अतएव चार्वाक दर्शन की दृष्टि में भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनुभवजन्य होता है। कुमारिल की मान्यता है कि शब्द और अर्थ में न तो तादात्म्य सम्ब्रन्ध होता है, न ही भेदाभेद का सम्बन्ध। कतिपय मीमांसकों ने शब्दार्थ को शब्द से पृथक माना है। विश्वनाथ पंचानन ने

41. योऽयम् शब्दः स एव अर्थः।
योऽयम् अर्थः स एव शब्दः।।
पादटिप्पणी, उद्धृत प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 44

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपनी पुस्तक "सिद्धान्त मुक्तावली" में कहा है कि मीमांसकों के अनुसार पदार्थ (शब्दार्थ) से भिन्न संकेत ग्रहण करनेवाली शक्ति ही अभिधा (शब्द की मूल वृत्ति) नाम से अभिहित है।[42] श्रीकंठ दीक्षित की पुस्तक "तर्क प्रकाश" में कहा गया है कि "कुमारिल के मत में पद (शब्द) और अर्थ से भिन्न-अभिन्न सम्बन्ध को ही वाक्य कहा जाता है।"[43] स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध को लेकर भिन्न-भिन्न विचार पाये जाते हैं।

जैन दर्शन भी कतिपय मीमांसकों की भांति शब्द और अर्थ को स्वतंत्र मानते हुए उनमें भेद का सम्बन्ध स्वीकारता है। परन्तु बौद्ध दर्शन का विचार शब्दार्थ सम्बन्ध को लेकर अनूठा है। वह शब्द की मूल प्रवृत्ति को "अपोह" की संज्ञा देता है। अपोह का तात्पर्य "नहीं नहीं" से है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। गाय का अर्थ वह पशु है जो "अ-गाय नहीं है"। अ का अर्थ नहीं होता है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निषेधात्मक होता है जिसे अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नाभिन्नत्व कहा जाता है। परन्तु वैयाकरणों की दृष्टि में शब्दार्थ सम्बन्ध निषेधात्मक नहीं होता है, बल्कि वाचक-वाच्य सम्बन्ध के रूप में शब्द और अर्थ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। जिस शब्द से किसी व्यवधान के बिना संकेत (अर्थ) का ग्रहण होता है, वही साक्षात संकेतित अर्थ का बोधक शब्द 'वाचक' कहलाता है। वाच्य उस संकेत द्वारा निर्देशित अर्थ को कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शब्द संकेत मात्र है, और उसमें निहित मूल वृत्ति अर्थ है। संकेत वाचक और मूल वृत्ति या अर्थ वाच्य है।

पतंजलि ने भी शब्द को संकेत मात्र माना है। शब्द संकेतवत होता है जो किसी पदार्थ (वस्तु) को सूचित करता है। किन्तु कुमारिल की आपत्ति है कि यदि शब्द संकेत मात्र हो, तो मानना होगा कि प्रत्यक्ष धुआँ आग का सूचक है। दूसरे शब्दों में, धुआँ देखने से ही आग का प्रत्यक्ष होना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता है। अतः संकेत के रूप में शब्द की परिभाषा अत्यन्त विस्तृत है। इस परिभाषा के अनुसार शब्द और अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। वह एक ही है। इस परिभाषा का दूसरा दोष है कि जबतक शब्द के अर्थ को नहीं जाना जाता है, तबतक शब्द होता ही नहीं है। तात्पर्य है कि शब्द का आधार अर्थ है, न कि अर्थ का आधार शब्द है। यह "बैल के आगे गाड़ी जुतने" की स्थिति (दोष) है। इन आरोपों का उत्तर देते हुए कहा गया है कि यद्यपि धुआँ आग का सूचक है, पर आग का वाचक नहीं है। वाचक और सूचक में अंतर होता है। वाचक वह है जो किसी शब्द में निहित अर्थ को अभिव्यक्त करता है, लेकिन सूचक वह है जो किसी शब्द की सूचना देता है या उस शब्द का निर्देश मात्र करता है। अतएव शब्द मात्र संकेतक नहीं होता है, बल्कि शब्द अर्थ की अभिव्यंजना भी है। यही कारण है कि शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध पाया जाता है।

जैन, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन के अनुसार वाचक-वाच्य सम्बन्ध वस्तुतः व्याप्य-व्यापक संबंध है। व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हेतु और साध्य के बीच पाया जाता है। हेतु और साध्य अनुमान के घटक हैं। जिस प्रकार हेतु से साध्य का निगमन होता है, उसी प्रकार वाचक से वाच्य निगमित होता है। वाचक शब्द है, जो हेतु का कार्य करता है और वाच्य अर्थ है, जो साध्य के समान है। अतएव वाचक-वाच्य सम्बन्ध शब्दार्थ सम्बन्ध न होकर अनुमान मात्र के घटक सम्बन्ध हैं। किन्तु न्याय दर्शन के अनुसार अनुमान के अंतर्गत हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध पाया जाता है। यह अनिवार्य और अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु वाचक-वाच्य

---

42. वही, (पाद टिप्पणी)
43. वहीं, (पाद टिप्पणी)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। यदि ऐसा होता, तो "भोजन" शब्द कहते ही हमारे मुंह में "भोजन" आ जाता। "आग" शब्द कहते ही हमारे आसपास आग लग जाती। "तलवार" कहते ही 'सिर कटना' शुरू हो जाता। 'रेलगाड़ी" कहते ही हमारे सामने रेलगाड़ी आकर खड़ी हो जाती। जब हम घड़ा, रेलगाड़ी, गाय आदि शब्दों का उच्चारण नहीं करते हैं, फिर भी ये वस्तुएँ कहीं-न-कहीं मौजूद रहती हैं। यदि कहा जाय "घड़ा नहीं है", तो इस वाक्य में 'घड़ा' शब्द का प्रयोग या उच्चारण है। लेकिन इससे घड़ा के नहीं होने का बोध मात्र शब्द तक सीमित है, न कि वास्तविक वस्तु के रूप में घड़ा की अनुपस्थिति का बोध होता है। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ के बीच व्याप्ति और अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होने से शब्दार्थ को अनुमान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वाचक-वाच्य संबंध व्याप्ति सम्बन्ध नहीं, वरन् शब्दार्थ सम्बन्ध ही है। वाचक सूचक या निर्देशक है। यह शब्द है। वाच्य शब्द का अर्थ है। यह वस्तु है। अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्राकृतिक नहीं है, जैसा कि वैयाकरणों की मान्यता है। चूंकि शब्दार्थ सम्बन्ध अनिवार्य नहीं हैं, इसलिए इसे व्याप्ति नहीं कहा जा सकता और न ही शब्द ज्ञान या शाब्दबोध को अनुमान कहा जा सकता है। शाब्दबोध एक स्वतंत्र प्रक्रिया है।

ऊपर की पंक्तियों में शब्द की मुख्य या मूल वृत्ति एवं संकेत पदों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः शब्द की मुख्य या मूल वृत्ति को अभिधा कहा जाता है। अभिधा के अतिरिक्त शब्द की अन्य वृत्तियाँ भी हैं जिनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायेगा। यहाँ सिर्फ संकेत की विवेचना की जा रही है।

संकेत के प्रकार

ऊपर की पंक्तियों में यथास्थान संकेत की परिभाषा दी गयी है। इस परिभाषा के अनुसार शब्द वह संकेत है, जो साक्षात रूप से अर्थ को अभिव्यक्त करता है। जैसे— कलम। कलम वह शब्द है जो इस अर्थ को अभिव्यक्त करता है कि कलम एक ऐसी वस्तु है जिससे लिखने का कार्य होता है। अतः कलम लिखने का कार्य करनेवाली वस्तु का साक्षात बोधक होने से इस वस्तु का संकेत मात्र है। इसी प्रकार पुस्तक, बन्दूक, घड़ा आदि शब्द भी संकेतमात्र होते हैं। भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में संकेत दो प्रकार के होते हैं— अजानिक और आधुनिक।

अजानिक संकेत वह है जिससे किसी शब्द के प्रचलित या परम्परागत अर्थ का बोध होता है। यह काल की सीमा में नहीं बंधा है। इसे अनादि कहा जाता है। गाय, कुर्सी, कलम, पुस्तक आदि ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ कब से आरम्भ हुआ और किसने इन्हें अर्थ प्रदान किया— कोई नहीं जानता है। इसलिए इस अर्थ को अनादि संकेत कहा जाता है। 'अजानिक' शब्द का अर्थ ही है जिसे नहीं जाना जाय। तात्पर्य है कि अजानिक संकेत वह शब्द है जिसके प्रादुर्भाव को जानना असंभव है। इसी तरह कोई नहीं बता सकता कि यह संकेत कब अन्त होगा अर्थात् यह अनन्त है। दूसरे शब्दों में, अजानिक संकेत अनादि, अनन्त और कालातीत है। यह न केवल कालातीत वरन् देश के परे भी है। 'गाय' शब्द से जिस जानवर का संकेत भारत में मिलता है, 'काऊ' (Cow) शब्द से उसी जानवर का संकेत इंग्लैंड या अमेरिका में मिलता है। भाषान्तर या लिप्यान्तर होने से अर्थ में परिवर्तन नहीं होता है। यही कारण है कि अजानिक संकेत को नित्य और प्राकृतिक कहा जाता है। यह अपरिवर्तनशील है। न्याय दर्शन, मीमांसा दर्शन और व्याकरण दर्शन शब्द को अजानिक संकेत के रूप में स्वीकारते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिक संकेत वह है जो किसी व्यक्ति द्वारा किसी समय में निर्धारित अर्थ प्रदान किया जाता है। किसी समय में निर्धारित अर्थ का तात्पर्य ही है कि किसी समय में शब्द का अर्थ डाला जाता है, अर्थात् आधुनिक संकेत कृत्रिम अर्थ है। यह देश और काल की सीमा में बंधा है। अतएव इसे दिक्कालावच्छिन्न कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई बच्चा जन्म लेता है, तो उसके माता-पिता या सगे-सम्बन्धी उसका एक नाम रखते हैं। जैसे— देवदत्त, हरि प्रसाद इत्यादि। उस बच्चा का नाम देवदत्त या हरि प्रसाद नहीं रखकर दूसरा नाम भी रखा जा सकता है। जैसे— जॉन, पीटर, अभिषेक या कोई अन्य। उस बच्चा का नाम चाहे कुछ भी हो, वह उसके माता-पिता या सगे-संबंधियों द्वारा किसी समय और स्थान में दिया जाता है। अतः वह नाम अर्थात् शब्द का आविर्भाव होता है। इसलिए इसे आधुनिक संकेत या परिभाषा कहते हैं। दार्शनिक और वैज्ञानिक जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे कृत्रिम हैं क्योंकि उन शब्द के रचनाकार तो वे स्वयं हैं। ऐसे शब्द-संकेत नित्य नहीं होते। आवश्यकतानुसार इनमें परिवर्तन होता रहता है और नये शब्द-संकेत की रचना भी होती है। ब्रह्म, ईश्वर आत्मा, माया, विवर्त्त, पिण्ड, मात्रा, वेग, विराम, क्वाण्टम आदि पद स्थायी नहीं होते हैं क्योंकि इन शब्दों से जो संकेतार्थ मिलता है, वह न तो सर्वमान्य है और न ही अपरिवर्तनशील। अतएव आधुनिक संकेत आदि और अन्त से युक्त होने के कारण अनित्य है। वह प्रचलित या प्राकृतिक न होकर नवीन और कृत्रिम है। मीमांसा दर्शन और व्याकरण दर्शन आधुनिक संकेत को नहीं स्वीकारता है, जबकि न्याय (नव्य सहित) दर्शन, जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन आधुनिक संकेत के समर्थक हैं। बौद्ध दर्शन अजानिक संकेत को मान्यता नहीं देता है। किन्तु न्याय (नव्य सहित) और जैन दर्शन दोनों (अजानिक-आधुनिक) ही संकेतों को स्वीकारते हैं।

सारमंजरी के लेखक जयकृष्ण तर्कालंकार ने शब्द का दो भेद माना है— वाचक और लक्षक।[44] वाचक को संकेत कहा गया है। संकेत की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "इस शब्द से इस अर्थ का ज्ञान हो"— इस प्रकार का बोध संकेत कहलाता है। जयकृष्ण तर्कालंकार ने भी संकेत का दो भेद किया है— ईश्वर संकेत तथा आधुनिक संकेत। घट आदि ईश्वर संकेत है और मैत्र आदि आधुनिक संकेत है। तर्कालंकार ने न्याय दर्शन के विचार को ही प्रस्तुत किया है। ईश्वर संकेत ही अजानिक संकेत है। उन्होंने 'लक्षक' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस शब्द के अर्थ का ग्रहण अभिधापूर्वक होता है, उसे लक्षक या लाक्षणिक कहते हैं।[45] जैसे "गंगा में घर है"— इस वाक्य में "गंगा में" का अर्थ गंगा पर है जो अभिधामूलक है। इसलिए यह लाक्षणिक अर्थ या लक्षक कहलाता है। न केवल तर्कालंकार बल्कि सभी नैयायिकों ने शब्द की मुख्यतः दो वृत्तियाँ बतलायी हैं— अभिधा और लक्षणा। अभिधा को शब्द की शक्ति कहा जाता है। यह किसी शब्द का मुख्य अर्थ होता है। जैसे— गाय। 'गाय' शब्द की शक्ति अर्थात् मुख्य अर्थ है कि एक ऐसा जानवर जिसके पास चार पैर, एक पूंछ, दो सींग आदि निश्चित शारीरिक विशेषताएँ होती हैं। यह शब्दकोशीय अर्थ है। दूसरे शब्दों में, शब्दकोश से प्राप्त अर्थ अभिधा है। किन्तु लक्षणा किसी शब्द का गौण अर्थ है। जैसे— 'गाय' शब्द का प्रयोग किसी बहुत ही सरल एवं सीधे व्यक्ति के लिए किया जाता है, तो यह गाय का लक्षणा अर्थ है। यहाँ मुख्य अर्थ बाधित होते हुए भी गाय के स्वभाव से उस व्यक्ति के स्वभाव की तुलना कर उसे 'गाय' की संज्ञा दी जाती

44. डॉ॰ विजयपाल शास्त्री , उपर्युक्त, पृ॰ 40
45. वहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इन दो वृत्तियों के अतिरिक्त वैयाकरणों, विशेषकर अलंकारशास्त्रियों ने शब्द की तीसरी वृत्ति का भी उल्लेख किया है। इस वृत्ति को व्यंजना कहते हैं। व्यंजना वह वृत्ति है जो मुख्य अर्थ को बाधित करती है और नहीं भी। यह स्वतंत्र रूप से अर्थ अभिव्यक्त करती है। कभी-कभी अभिधा और कभी-कभी लक्षणा पर आधारित होकर भी अर्थ को अभिव्यंजित करती है। इन तीनों वृत्तियों का विस्तारपूर्वक विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा।

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पंचम अध्याय

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना

अभिधा

गत अध्याय में अभिधा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि यह शब्द का मुख्य अर्थ है। इसे मौलिक अर्थ कहा जाता है। मम्मट भट्ट ने शब्द के मुख्य व्यापार, जो अर्थ के संबंध में होता है, को अभिधा कहा है।[46] इसे शब्द की शक्ति भी कही जाती है, अर्थात् अभिधा और शक्ति पर्यायवाची पद हैं। न्याय दर्शन में शब्द की तीन शक्तियों— योग, रूढ़ि और योगरूढ़ि— का उल्लेख मिलता है।[47] किन्तु कतिपय नैयायिकों और वैशेषिककारों ने ''योगिकरूढ़ि'' को भी शक्ति माना है।[48] वैयाकरणों ने इन चारों को अभिधा या शक्ति स्वीकारा है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक तथा व्याकरण दर्शनों में अभिधा के चार प्रकार बतलाये गये हैं— रूढ़, यौगिक, योगरूढ़, यौगिकरूढ़। इनके विवेचन के पूर्व शक्ति के दो रूपों का विवेचन भी आवश्यक है— समुदाय शक्ति और अवयव शक्ति। किसी शब्द का मुख्य अर्थ (अभिधा) समुदाय शक्ति और अवयव शक्ति दोनों द्वारा प्राप्त होता है। समुदाय शक्ति का तात्पर्य है कि किसी शब्द की संरचना वर्णों के समूह या समुदाय द्वारा होती है और उसी समुदाय से अर्थ उत्पन्न होता है। जैसे— घड़ा, कलम, जल आदि। घ, ड़ और आ वर्णों के एक साथ जुड़ने से 'घड़ा' शब्द बनता है। ये वर्ण 'घड़ा' शब्द के अवयव हैं, परन्तु स्वतंत्र रूप से इनका कोई अर्थ नहीं है। जब ये परस्पर संयुक्त होते हैं, तो अर्थ की उत्पत्ति होती है। इकाई रूप में ये वर्ण निरर्थक हैं, समुदाय रूप में ये सार्थक हैं। समुदाय रूप में इनमें वह शक्ति आती है जो अर्थ उत्पन्न करती है। कलम, जल आदि शब्द भी क्रमशः क, ल, म और ज, ल वर्णों से युक्त होकर समुदाय बनाते हैं। इस समुदाय में निहित शक्ति द्वारा कलम और जल का अर्थ अभिव्यक्त होता है। किन्तु कतिपय ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ समुदाय शक्ति द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए घटकार, विभागाध्यक्ष, पुस्तकालय आदि। घटकार में घट और कार दो अवयव हैं। इसी तरह विभागाध्यक्ष और पुस्तकालय में क्रमशः विभाग और अध्यक्ष, पुस्तक और आलय दो-दो अवयव निहित हैं। अतएव इन शब्दों का अर्थ इनके अवयवों के अर्थ पर निर्भर करता है। घटकार का घट (घड़ा) और कार (बनानेवाला) दोनों मिलकर घटकार (घड़ा बनानेवाला) का अर्थ ''कुम्हार'' के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। विभाग और अध्यक्ष के मिलने से विभागाध्यक्ष का अर्थ किसी विभाग के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति का बोध होता है। पुस्तक और आलय मिलकर पुस्तकालय का अर्थ 'जहाँ विभिन्न विषयों के पुस्तकों का संग्रह हो' प्रदान करते हैं। इस प्रकार इन सभी शब्दों या पदों का अर्थ इनके अवयवों में निहित शक्ति द्वारा उत्पन्न या अभिव्यक्त होते हैं।

---

46. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधीयते। —मम्मट भट्ट, काव्य प्रकाश, 2.8
47. अन्नमभट्ट, तर्कदीपिका
48. शेषनाथ, पदार्थ चन्द्रिका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समुदायशक्ति से उत्पन्न या अभिव्यक्त अर्थ को समुदायार्थ और अवयव शक्ति से उत्पन्न या अभिव्यक्त अर्थ को अवयवार्थ कहा जाता है। अवयवशक्तिः योगः— अन्नमभट्ट की यह मान्यता है और अवयवशक्ति योग कहलाता है। 'पाचक' शब्द 'पच्' धातु और 'ण्वुल्', प्रत्यय के मिलने से बना है। 'पच्' को प्रकृति (मूल शब्द) और 'ण्वुल' को विभक्ति कही जाती है। पच् मूल (धातु या क्रियाबोधक) अर्थ है, तो ण्वुल से कर्तृत्व का बोध होता है। अर्थात् ण्वुल् कर्त्ता का बोधक है। अतएव पाचक का अर्थ पकानेवाला होता है। यह अवयवार्थ है। परन्तु सभी शब्द प्रकृति और विभक्ति से मिलकर नहीं बनते हैं। जैसे— पनस। इस शब्द में प, न और स ये तीन वर्ण परस्पर संयुक्त हैं। अतः यह शब्द वर्णों का समुदाय है। इसी समुदाय से इस शब्द का अर्थ अभिव्यक्त होता है— कटहल। यहाँ अवयवशक्ति से नहीं, वरन् समुदायशक्ति से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। अतः इस अर्थ को समुदायार्थ कहते हैं।

ऊपरलिखित शब्दशक्ति (रूढ़, यौगिक, योगरूढ़, यौगिकरूढ़) का आधार ये दोनों अर्थ (समुदायार्थ एवं अवयवार्थ) हैं। रूढ़ वह शब्द है जिसका अर्थ परम्परा से प्रचलन में चला आ रहा है। इसलिए इसे प्रचलित अर्थ भी कहते हैं। यह अनादि है। कोई नहीं जानता कि जल का अर्थ पानी कब से प्रचलन में आया है, पर हर व्यक्ति इसी प्रचलित या परम्परागत अर्थ में जल का प्रयोग करता है। कलम, किताब, आदमी आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनका अर्थ परम्परा से चला आ रहा है। ये सभी शब्द वर्णों के समुदाय हैं। अतः इनका अर्थ समुदायशक्ति द्वारा उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि रूढ़ शब्द के अर्थ को समुदायार्थ कहा जाता है। इन शब्दों में वर्ण-समुदाय का एक निश्चित क्रम होता है। यह क्रम भी परम्परा से चला आ रहा है। इस क्रम में व्यवधान होने से अर्थ का अनर्थ या शब्द अर्थहीन हो जाता है। जल को लज, कलम को लमक, किताब को बताकि, आदमी को मीअद कहने से अर्थ की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति नहीं होती है। न्याय दर्शन अर्थ की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकारता है। लेकिन वैयाकरण दार्शनिकों ने अर्थ की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को माना है। स्पष्ट है कि किसी शब्द के रूढ़ अर्थ में दो प्रमुख विशेषताएँ पायी जाती हैं— (क) वर्णों के समुदाय द्वारा अर्थोत्पत्ति या अर्थाभिव्यक्ति अर्थात् समुदायार्थ रूढ़ अर्थ कहलाता है। (ख) अर्थोत्पत्ति या अर्थाभिव्यक्ति के लिए वर्ण-समुदाय के वर्णों का क्रम व्यवस्थित होना चाहिए। तात्पर्य है कि रूढ़ अर्थ वर्णों की क्रम व्यवस्था पर निर्भर करता है।

यौगिक शब्द वह है जिसका अर्थ शब्दों के अवयवों के अर्थ पर निर्भर करता है। जैसे— पाचक, कुम्भकार आदि। 'पाचक' शब्द का अर्थ उसके अवयवों या अंशों 'पच्' और 'ण्वुल्' के अर्थों के संयोग से प्राप्त होता है। इसी तरह 'कुम्भकार' शब्द का अर्थ भी उसके अवयवों या अंशों 'कुम्भ' और 'कार' के अर्थों के जुड़ने से अभिव्यक्त होता है। पच् का अर्थ पकाना या पाक है और ण्वुल् का अर्थ कर्त्ता है। अतः वह कर्त्ता या व्यक्ति जो पाक (रसोई) पकाना जानता हो अर्थात् पाक कला में निपुण हो, पाचक कहलाता है। इसी प्रकार कुम्भ का अर्थ घड़ा और कार का अर्थ बनानेवाला (कर्ता) है। अतः घड़ा बनानेवाले को कुम्भकार कहा जाता है। स्पष्ट है कि यौगिक शब्द का अर्थ अवयवशक्ति से उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है। इसलिए यौगिक शब्द का अर्थ अवयवार्थ भी कहलाता है।

योगरूढ़ शब्द वह है जिसका अर्थ समुदायशक्ति तथा अवयवशक्ति दोनों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए 'पंकज' शब्द लिया जा सकता है। पंक और ज इन दो शब्दों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के मिलने से 'पंकज' शब्द बना है। पंकज शब्द के वस्तुतः तीन अवयव हैं— पंक + जन् + ड। पंक उपपद, जन् धातु और ड प्रत्यय है। पंक का अर्थ कीचड़ है, ज का अर्थ उत्पत्ति, जान् का अर्थ भी उत्पत्ति और ड का अर्थ कर्ता है। ये अर्थ समुदायशक्ति द्वारा उत्पन्न या अभिव्यक्त हैं। परन्तु ये दोनों (पंक + ज) 'पंकज' शब्द के अंश या अवयव हैं। अतएव पंकज का अर्थ 'कमल' अवयवशक्ति द्वारा उत्पन्न या अभिव्यक्त है। परन्तु समुदायशक्ति द्वारा भी पंकज (पंक + जन् + ड) का अर्थ उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है और वह है कीचड़ में जन्म लेनेवाला। कीचड़ में केवल कमल ही जन्म नहीं लेता है, वरन् शैवाल आदि भी जन्मता है। फिर भी, पंकज का अर्थ शैवाल आदि नहीं लिया जाता; क्योंकि परम्परा से इसका अर्थ कमल ही माना जाता रहा है। अतएव पंकज का अर्थ रूढ़ भी है, और यह शब्द अवयवयुक्त होने से यौगिक भी है। रूढ़ि और यौगिक दोनों स्वरूपों का समन्वय होने से ही 'पंकज' जैसे शब्द 'योगरूढ़' कहलाते हैं।

यौगिकरूढ़ शब्द भी रूढ़ि और यौगिक स्वरूपों का समन्वय है। किन्तु इस शब्द का अर्थ 'योगरूढ़' शब्द की भांति अवयवशक्ति पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि मात्र परम्परा पर निर्भर करता है। जैसे— अश्वगंधा। अश्व का अर्थ घोड़ा और गंधा का अर्थ गंध है। अश्व और गंधा— ये दोनों 'अश्वगंधा' शब्द के अवयव या अंश हैं। अतः अवयवशक्ति पर आधारित होने से इस शब्द का अर्थ उस गंध से होगा जो घोड़ा के समान हो। परन्तु परम्परा से इस शब्द का अर्थ औषधीय पौधे के रूप में जाना जाता है। अतएव इस शब्द का अर्थ समुदायशक्ति पर निर्भर है। इसलिए इसे रूढ़ और यौगिक दोनों कहा जाता है, क्योंकि इस शब्द के अवयव होते हैं। अतएवं इस प्रकार के शब्द यौगिकरूढ़ कहलाते हैं। उद्भिद् ऐसा ही शब्द है। इस शब्द के तीन अवयव हैं— उद् + भिद् + क्विप्। इस अवयवशक्ति से इसका अर्थ होता है भूमि को फोड़कर निकलनेवाला जैसे— वृक्ष, लता आदि। परन्तु इसका रूढ़ि अर्थ उद्भिद् नामक यागविशेष है। यह अर्थ समुदायशक्ति पर आधारित है। इस प्रकार यौगिकरूढ़ शब्द का अर्थ दोनों ही शक्तियों द्वारा स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त या उत्पन्न हो सकता है। लेकिन योगरूढ़ शब्द का अर्थ सदैव अवयवशक्तियुक्त समुदायशक्ति से उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है।

उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट होती है कि अभिधा के मुख्यतः दो ही प्रकार हैं— रूढ़ और यौगिक। ये स्वतंत्र प्रकार होने से मौलिक हैं। शेष दो प्रकार इन मौलिक प्रकारों पर आधारित हैं। इसलिए, योगरूढ़ और यौगिकरूढ़ अभिधा के गौण प्रकार हैं। अभिधा को संकेतार्थ भी कहा जाता है। विश्वनाथ पंचानन ने संकेतित अर्थ का बोध करानेवाली शक्ति को अभिधा कहा है।[49]

लक्षणा

जब किसी शब्द का मुख्य अर्थ बाधित होता है और एक नया अर्थ अभिव्यक्त होता है, उसे 'लक्षणा' कहते हैं। 'लक्षणा' शब्द लक्षण से बना है। लक्षण का पर्याय चारित्रिक विशेषता है। किसी शब्द की चारित्रिक विशेषता उसकी अभिधा शक्ति में निहित रहती है। उस शक्ति को बाधित करते हुए भी उसी शक्ति से निःसृत लाक्षणिक (चारित्रिक) अर्थ लक्षणा है। विश्वनाथ ने कहा है कि "किसी शब्द के मुख्य अर्थ को बाधित कर उसका अन्य अर्थ

---

49. विश्वनाथ पंचानन, साहित्य दर्पण, 2.4

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बतलाना लक्षणा है।''[50] मम्मट भट्ट की मान्यता है कि ''लक्षणा वह वृत्ति है जो मुख्य अर्थ का बाध होने पर मुख्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढ़ि अथवा किसी प्रयोजनवश अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है। यह स्वाभाविक न होकर आरोपित वृत्ति है।''[51] स्पष्ट है कि लक्षणा किसी शब्द का स्वाभाविक अर्थ नहीं होकर आरोपित अर्थ है। इसलिए इसे मुख्य अर्थ नहीं कहा जाता। दूसरी बात, यह मुख्य अर्थ नहीं होकर भी मुख्य अर्थ का त्याग नहीं करता। वस्तुतः लाक्षणिक अर्थ होने के कारण यह मुख्य अर्थ से युक्त होता है। तीसरी बात यह है कि लक्षणा या तो रूढ़िगत होती है या प्रयोजनयुक्त। मम्मट द्वारा बतलायी इन तीन विशेषताओं का उल्लेख विश्वनाथ ने भी अपने ''साहित्य दर्पण'' नामक पुस्तक में की है।

एक उदाहरण द्वारा लक्षणा की इन विशेषताओं को समझा जा सकता है। ''वह मनुष्य शेर है।'' इस वाक्य में शेर का मुख्य अर्थ (अभिधा) एक हिंसक जानवर है जो जंगलों में रहता है, जिसके पास चार पैर, एक पूंछ आदि हैं। परन्तु वह मनुष्य के संदर्भ में इस अभिधा अर्थ का प्रयोग नहीं हो सकता। अतः इस अर्थ से भिन्न अर्थ लेना आवश्यक है। शेर बहादुर भी होता है। अतएव यहाँ शेर का अर्थ बहादुर या वीर है। ''वह मनुष्य शेर है'' का अर्थ ''वह मनुष्य बहादुर या वीर है'' है। वीरता का संबंध शेर से जुड़ा है। अतः मुख्य अर्थ बाधित होते हुए भी यहाँ शेर का जो अर्थ लिया जाता है, वह मुख्य अर्थ से युक्त है। साथ ही, शेर का लाक्षणिक अर्थ 'वीर' रूढ़िगत अर्थ है। इस प्रकार इस वाक्य में प्रयुक्त 'शेर' का अर्थ अभिधार्थ नहीं है, वरन् लक्षणार्थ है। इसी प्रकार ''गंगा में गाँव है'' का अर्थ अभिधामूलक नहीं है, वरन् प्रयोजनवत लक्षणामूलक है। 'गंगा' का यहाँ अर्थ शीतलता, पवित्रता और शान्ति से लिया जाता है। यह गंगा का लक्षणा अर्थ है। 'गंगा में' का अर्थ 'गंगा के किनारे' है। अतः ''गंगा में गांव है'' का अर्थ ऐसे गांव से है जो गंगा के किनारे बसा हुआ शान्त, पवित्र और शीतल है। इसी प्रकार 'कुश' शब्द से बना 'कुशल' का अर्थ कुश नामक घास लानेवाला है। किन्तु प्रचलन में कुशल का अर्थ निपुण, दक्ष से लिया जाता है। यह रूढ़िगत लक्षणा अर्थ है, जबकि 'गंगा में गांव है' का लक्षणा अर्थ प्रयोजनयुक्त है। शीतल, पवित्र और शान्त होना प्रयोजन ही है।

लक्षणा अर्थ की आवश्यकता उस समय होती है, जब वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ में संगति नहीं पायी जाती है या उनमें अन्वय की उपपत्ति नहीं हो। जैसे''मंच क्रोधित है।'' इस वाक्य में प्रयुक्त पद 'मंच' तथा 'क्रोध' के अभिधा अर्थ में संगति (या अन्वय) नहीं पायी जाती है। अतएव यहाँ 'मंच' का लक्षणार्थ लेना आवश्यक है। मंच का अर्थ मंच पर आसीन पुरुष से है। पुरुष ही क्रोधित हो सकता है, मंच नहीं। अतएव लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति है। परन्तु सभी वाक्यों का लक्षणा अर्थ अन्वयानुपपत्ति द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता है, बल्कि कतिपय ऐसे वाक्य हैं जिनका अर्थ उनमें प्रयुक्त पदों की तात्पर्यशक्ति से अभिव्यक्त होता है। जैसे— ''कौवों से दही की रक्षा करो।'' इस वाक्य में 'कौवा' का तात्पर्य उन सभी पशु-पक्षियों से है जो दही खा सकता है। अतएव जहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, वहाँ भी लक्षणा अर्थ की आवश्यकता होती है। 'कौवा' शब्द से स्पष्ट है कि दही की रक्षा इस पक्षी से करनी है, परन्तु यहाँ कौवा का अभिधा अर्थ व्यक्त होते हुए भी वाक्य में प्रयुक्त पदों

---

50. वही, 2.5
51. मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। —मम्मट भट्ट, वही.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'कौवा' और 'रक्षा' का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता है। दही बिल्ली, कुत्ते, तोता आदि पशु-पक्षी खा सकते हैं। अतएव 'कौवा' का तात्पर्य अर्थ, जो यहाँ अनुपन्न है, को उपस्थित कर ही इस वाक्य का सही अर्थ बतलाया जा सकता है। अतएव लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्ति भी है। यही कारण है कि प्राचीन नैयायिकों ने अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति दोनों को लक्षणा का मूल माना है, जबकि नव्य नैयायिकों ने केवल तात्पर्यानुपपत्ति को। इन दो अनुपपत्तियों के आधार पर ही लक्षणा का विभिन्न वर्गीकरण किया गया है। मुख्यतः पाँच प्रकार के लक्षणा का उल्लेख मिलता है— *रूढ़ एवं प्रयोजनवती लक्षणा, जहत् लक्षणा— अजहत् लक्षणा— जहदजहल्लक्षणा, गौणी एवं शुद्ध लक्षणा, उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा, तथा सारोपा एवं साध्यावसना लक्षणा।*

रूढ़ एवं प्रयोजनवती लक्षणा

रूढ़ लक्षणा वह है जिसका प्रयोग निरन्तर प्रचलन मे है। जैसे— कुर्सी की बांह, मेज का पांव, सूई की आंख इत्यादि। कुशल, शेर जैसे पदों का अर्थ भी रूढ़ लक्षणा के अन्तर्गत आता है। ऊपर की पंक्तियों में इन पदों का लक्षणार्थ बतलाया गया है। 'कुशल' शब्द 'कुश' से बना है। कुश एक प्रकार का घास है। अतः घास काटनेवाले को कुशल कहा जाता है। परन्तु प्रचलन में कुशल का अर्थ निपुण है। 'कुशल' का यह अर्थ रूढ़ लक्षणा है। इसी प्रकार शेर का रूढ़ लक्षणा अर्थ वीर है।

प्रयोजनवती लक्षणा वह है जिसका अर्थ प्रचलित या प्रयोजनयुक्त होता है। प्रयोजन का अर्थ तात्पर्य से लिया जाता है। ऊपर "गंगा में गांव है" का उदाहरण लिया गया है। 'गंगा में' का तात्पर्य 'गंगा के किनारे' है। यद्यपि यह अर्थ तात्पर्यशक्ति द्वारा निःसृत है, फिर भी यह अर्थ प्रचलन में पाया जाता है। इसलिए इसे "प्रचलित प्रयोजनवती लक्षणा" कहते हैं। किन्तु यदि "गंगा में गांव है" का अर्थ उस गांव से लिया जाय, जो गंगा के समान शान्त, पवित्र और शीतल है, तो इस अर्थ में स्पष्टतः प्रयोजन निहित है। अतएव इसे "प्रयोजनमूलक प्रयोजनवती लक्षणा" कही जाती है। रूढ़ लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति है, तो प्रयोजनवती लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्ति है।

जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा

जहत् लक्षणा वह है जो किसी शब्द के मुख्य अर्थ को पूर्णतः बाधित करता है और एक नया अर्थ प्रदान करता है। जैसे "गैलरी शोर करता है", "घी जीवन है"; "मंच क्रोधित है" इत्यादि। गैलरी, घी, मंच— इन शब्दों के अभिधा अर्थ से इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता जबतक इनके लक्षणा अर्थ को नहीं बतलाया जायेगा, इन वाक्यों को अर्थहीन माना जायेगा। इन वाक्यों का अर्थ क्रमशः "गैलरी में बैठा मनुष्य शोर करता है", "घी खाने से जीवन स्वस्थ रहता है", "मंच पर आसीन व्यक्ति क्रोधित है" है। स्पष्ट है कि इन वाक्यों में प्रयुक्त पद गैलरी, घी, मंच का अभिधा (मुख्य) अर्थ पूरी तरह बाधित है और उनके लिए स्थापन्न अर्थ क्रमशः मनुष्य, जीवनदायिनी और मनुष्य है। अतः इन पदों का अर्थ जहत् लक्षणा कहलाता है।

अजहत् लक्षणा वह है, जिसमें किसी शब्द का मुख्य अर्थ बाधित नहीं होता है परन्तु मुख्य अर्थ से युक्त अन्य अर्थ भी अभिप्रेरित होता है। जैसे— "कौवों से दही की रक्षा करो।" जब एक गुरु नदी में स्नान करने जा रहे थे, तो उन्होंने अपने शिष्य को इस वाक्य द्वारा आदेश दिया। शिष्य एक छड़ी से कौवा भगाता रहा, परन्तु बिल्ली को नहीं भगाया। बिल्ली उसके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पीछे से आकर दही खा गयी। स्नान करने के पश्चात् जब गुरू आये और देखा कि दही नहीं है, तो क्रोधित होकर गुरू ने पूछा कि दही की रक्षा क्यों नहीं हुई? शिष्य का उत्तर था कि आपने कौवों से रक्षा का आदेश दिया था, बिल्ली से नहीं। शिष्य ने कौवा का मुख्य अर्थ समझा, लेकिन उसके लक्षणार्थ को नहीं समझ पाया। वस्तुतः यहाँ 'कौवा' शब्द का प्रयोग उसके लक्षणार्थ में किया गया है। यहाँ कौवा का अर्थ कौवा सहित बिल्ली, कुत्ता, तोता आदि उन पशु-पक्षियों से है जो दही खाते हैं। कौवों से दही की रक्षा करो— इस वाक्य में प्रयुक्त पद "कौवा" अपने मुख्य अर्थ के साथ-साथ अन्य अर्थ (बिल्ली, कुत्ता, तोता आदि) से भी युक्त है। अतः इस वाक्य में अजहत् लक्षणा पायी जाती है।

जहदजहल्लक्षणा वह है जिसमें किसी शब्द का मुख्य अर्थ अंशतः बाधित होता है और मुख्य अर्थ अंशतः अन्य अर्थ से युक्त होता है। तात्पर्य यह है कि जिस वाक्य का अर्थ जहत् तथा अजहत् दोनों लक्षणाओं द्वारा स्पष्ट होता है, उसे जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार "जहति अजहति पदानि स्ववाच्यार्थ यस्यां सा" के रूप में इस लक्षणा को परिभाषित किया जाता है।[52] अर्थात् जिस लक्षणा में पद या शब्द अपने वाच्यार्थ (मुख्य अर्थ) के कुछ अंश का त्याग करे तथा कुछ अशं का बोध कराये, वह जहदजहल्लक्षणा कहलाती है। उदाहरण के लिए "यह वह देवदत्त है।" इस वाक्य में "यह" का अर्थ "वह" से लिया गया है। "यह" का मुख्य अर्थ 'वर्त्तमान' और 'सामीप्य' है। "वह" का मुख्य अर्थ 'अतीत' और "दूरस्थ" है। यह वाक्य सरल नहीं है, क्योंकि इसमें दो वाक्य निहित हैं। पहला वाक्य है— यह देवदत्त है। दूसरा वाक्य है— वह देवदत्त है। पहला वाक्य वर्त्तमानकालिक है। दूसरा वाक्य अतीतकालीन है। जिस देवदत्त को पहले देखा गया, वही देवदत्त यह देवदत्त है— इस जटिल वाक्य का अर्थ यही है। यहाँ "यह" शब्द का मुख्य अर्थ भी लिया गया है और मुख्य अर्थ का त्यागकर यह का अर्थ "वह" भी लिया गया है। साधारण तौर पर यह और वह का अर्थ एक दूसरे का विरोधी है। उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन में अभिव्यक्त महावाक्यों "तत्त्वमसि" "अहम् ब्रह्माऽस्मि" "आत्मानाम् प्रज्ञानाम्" आदि का अर्थ जहदजहल्लक्षणा द्वारा ही स्पष्ट होता है। तत् त्वम् असि (वह तुम हो) का तात्पर्य है कि ब्रह्म आत्मा है। 'वह' शब्द सर्वनाम और अन्य पुरुष के लिए व्यवहार होता है। जैसे— "राधा सुन्दर है। वह विदुषी है।" यहाँ "राधा" अन्य पुरुष है और "वह" सर्वनाम है। "वह" शब्द का प्रयोग 'राधा' के अर्थ में किया गया है। "तत्त्वमसि" वाक्य में "वह" शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिए किया गया है। 'ब्रह्म' शब्द भी अन्य पुरुष है। यहाँ सर्वनाम "वह" का अर्थ अन्य पुरुष 'ब्रह्म' है। 'तुम' शब्द मध्यम पुरुष के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तुम' शब्द 'आत्मा' के अर्थ में लिया गया है। 'आत्मा' पद अन्य पुरुष है। स्पष्ट है कि वह (ब्रह्म) का मुख्य अर्थ स्वीकारा गया है, लेकिन तुम (आत्मा) का मुख्य अर्थ बाधित हुआ है और उसके स्थान पर नया अर्थ लिया गया है और 'वह' तथा 'तुम' पदों में तादात्म्य संबंध दिखलाकर ब्रह्म को ही आत्मा का पर्याय मान लिया गया है। इसी प्रकार अन्य महावाक्यों का भी अर्थ जहदजहल्लक्षणा द्वारा ही स्पष्ट हो पाता है।

---

52. डॉ॰ विजयपाल शास्त्री, उपर्युक्त, पृ॰ 67

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जहदजहल्लक्षणा को ''भाग त्याग लक्षणा'' भी कहा जाता है।[53] भाग का अर्थ अंश से है। इस लक्षणा में मुख्य अर्थ आंशिक रूप से बाधित तथा आंशिक रूप से अबाधित है। इसलिए इसे ''भागत्याग'' कहा जाता है।

गौणी एवं शुद्ध लक्षणा

गौणी लक्षणा वह है जो मुख्य अर्थ की समानता पर आधारित होता है। जैसे— ''वह मनुष्य बैल है।'' इस वाक्य में उस मनुष्य को बैल कहा गया है, जो सुस्त या आलसी होता है। इस वाक्य में निहित अर्थ है— ''वह मनुष्य बैल के समान सुस्त या आलसी है।'' यहाँ अर्थ छिपा हुआ है जिसे बैल से तुलना करके अभिव्यक्त किया जाता है। बैल से 'वह मनुष्य' की तुलना समानता के आधार पर की जाती है। बैल पशु है और 'वह मनुष्य' मनुष्य है। इन दोनों में भिन्नता है। किन्तु दोनों के गुण में जो समानता है, उसको ही आधार बनाकर अर्थ निकाला जाता है, न कि उनके भेद के आधार पर। उनमें जो भेद है, उसे दरकिनार किया जाता है। अतः इस अर्थ को गौणी लक्षणा कहते हैं— गुणादागता गौणी।

अलंकारशास्त्रियों के अनुसार दो भिन्न पदों में समानता रूपक अलंकार द्वारा दिखलाया जाता है। रूपक अलंकार और उपमा अलंकार में अन्तर होता है, यद्यपि उपमा अलंकार का आधार भी समानता है। दोनों अलंकारों के अन्तर को निम्नलिखित वाक्यों द्वारा दिखलाया जा सकता है—

1. वह मनुष्य बैल के समान है। — उपमा अलंकार
2. वह मनुष्य बैल है। — रूपक अलंकार

वाक्य (1) में 'वह मनुष्य' और 'बैल' में समानता दिखलाया गया है। इस समानता द्वारा दोनों पदों में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। पहला वाक्य से बोध होता है कि 'वह मनुष्य' और 'बैल' में समानता के साथ-साथ असमानता भी है। वाक्य (2) में इन दोनों पदों में जो समानता दिखलायी गयी है, उसमें असमानता का तनिक भी बोध नहीं होता है, बल्कि अभिन्नता या तादात्म्य का बोध होता है। स्पष्ट है कि उपमा अलंकार वह है जिसमें समानता और विभेद दोनों का बोध हो। रूपक अलंकार वह है जिसमें केवल समानता का बोध होता है। गौणी लक्षणा रूपक अलंकार पर आधारित है।

शुद्ध लक्षणा वह है जो समानता के आधार पर नहीं, बल्कि कारणता आदि संबंधों द्वारा किसी शब्द के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। जैसे ''घी जीवन है।'' इस वाक्य में घी को जीवन से तादात्म्य किया गया है। उनमें अभिन्नता दिखलायी गयी है। घी और जीवन में कोई समानता नहीं है। घी मूर्त्त और भौतिक पदार्थ है। जीवन अमूर्त्त प्रत्यय है। घी खाद्य पदार्थ है। जीवन एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का संचालन और संरक्षण खाद्य पदार्थों द्वारा ही होता है। अतः घी का अर्थ जीवन-संचालक और संरक्षक है। इसी अर्थ में घी को जीवन कहा गया। यहाँ 'घी' शब्द के अर्थ में अन्य शब्द 'जीवन' का अर्थ आरोपित या उपचारित नहीं है। इसलिए इस अर्थ को शुद्ध लक्षणा कहते हैं। गौणी लक्षणा में एक शब्द (वह मनुष्य) पर दूसरे शब्द (बैल) के अर्थ को आरोपित या उपचारित किया जाता है। अतः कहा गया है कि गौणी लक्षणा का सार उपचार में निहित है, जबकि शुद्ध लक्षणा में उपचार का अभाव रहता है।

---

53. प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 111

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गौणी लक्षणा तथा शुद्ध लक्षणा के कतिपय अन्य उदाहरण लिये जा सकते हैं। वह बालक आग है। (अर्थात् वह बालक आग के समान प्रखर बुद्धिवाला तेजस्वी बालक है।) यहाँ 'आग' की प्रखरता और तेजस्विता से 'वह बालक' की बुद्धि की तुलना समानता के आधार पर की गयी है। जब किसी लड़की के विनम्र स्वभाव की तुलना शहद की समानता से की जाती है, तो कहा जाता है कि वह शहद है। (अर्थात् वह शहद के समान मीठा है।) मीठा का अर्थ विनम्रता से लिया गया है। ये दोनों वाक्य गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं। बुढ़ापा विपत्ति है। सद्‌गुण आनन्द है। इन दोनों वाक्यों में बुढ़ापा और सद्‌गुण को क्रमशः विपत्ति और आनन्द का कारण बतलाया गया है। इन दोनों पदों (बुढ़ापा और सद्‌गुण) पर अन्य पदों के अर्थ का आरोप या उपचार नहीं है। अतः ये दोनों वाक्य शुद्ध लक्षणा के उदाहरण हैं।

उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा

स्वसिद्धयते पराक्षेपः स्याद् उपादानलक्षणाः[54] अर्थात् जो अपनी सिद्धि के लिए (अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए) दूसरों की अपेक्षा करता है, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं। मम्मट भट्ट की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त कोई पद का अर्थ तब स्पष्ट होता है जब उस पद के साथ कोई दूसरा पद जुड़ जाय। उदाहरण के लिए "कुदाल आता है।" इस वाक्य में 'कुदाल' का अभिधा अर्थ नहीं लिया गया है, बल्कि इस शब्द का लक्षणा अर्थ है। इसका लक्षणा अर्थ तभी स्पष्ट हो पाता है, जब 'कुदाल' शब्द में 'वाला' जोड़ा जाय, अर्थात् यहाँ कुदाल का अर्थ कुदालवाला है। कुदाल एक उपादान (साधन) है, जिससे खेतों और बगीचों में मिट्टी कोड़ी जाती है, घास छिला जाता है। इसलिए कुदाल का अर्थ कुदालवाला लक्षणार्थ है और यह उपादान लक्षणा है। हम अपने प्रत्येक दिन के अनुभव में इस तरह के वाक्यों का प्रयोग करते हैं। जैसे— "रिक्शा आओ", "थ्री ह्वीलर सुनो" "स्कूटर गया" इत्यादि। इन वाक्यों का अर्थ क्रमशः रिक्शावाला आओ, थ्री ह्वीलर का ड्राइवर सुनो, स्कूटरवाला गया इत्यादि है। "काली आ रही है", "उजला दौड़ रहा है" आदि वाक्यों का अर्थ भी उपादान लक्षणा से ही स्पष्ट होता है। काली का अर्थ काली बिल्ली या काली लड़की से लिया जा सकता है। इसी तरह, उजला का अर्थ उजला घोड़ा लिया जा सकता है। अतएव इन वाक्यों का अर्थ काली बिल्ली या लड़की के आने से, उजला घोड़ा के दौड़ने से लेने पर ही स्पष्ट हो पाता है। यही कारण है कि पार्थसारथि मिश्र ने भी अपनी पुस्तक "शास्त्रदीपिका" में मम्मट की भांति ही उपादान लक्षणा को परिभाषित किया है, अर्थात् उपादान लक्षणा वह है जिसकी अनिवार्यता वाक्य के अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अन्य शब्द के आक्षेप या अध्याहार के रूप में वर्तमान है।[55]

लक्षण लक्षणा वह है जो वाक्य में प्रयुक्त शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उस शब्द के मुख्य अर्थ का पूर्णतः त्याग करता है, बल्कि अन्य अर्थ को लेता है। यह अन्य अर्थ लक्षण लक्षणा कहलाता है। इसे लक्षित लक्षणा भी कहते हैं। कहा गया है— "लक्षिते लक्षितस्य वा लक्षणा लक्षित लक्षणा" अर्थात् लक्षित (जिस शब्द का अर्थ स्पष्ट करना हो) में लक्षणा होने के कारण वह लक्षित लक्षणा कहलाता है।[56] जैसे— "बंगाल बहादुर है।" इस वाक्य में बंगाल का अभिधा (मुख्य अर्थ) एक राज्य से है जिसे बंगाल कहते हैं। राज्य अमूर्त्त

54. मम्मट भट्ट, उपर्युक्त, 2.10
55. प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त पृ॰ 114
56. डॉ॰ विजयपाल शास्त्री, उपर्युक्त, पृ॰ 67

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। अमूर्त्त राज्य के कतिपय तत्त्व होते हैं। जैसे— भूखंड, जनसंख्या आदि। लेकिन अमूर्त्त राज्य की विशेषता (बहादुर होना) नहीं होती। अतः यहाँ बंगाल का अर्थ उस राज्य के निवासियों से है, जिसे बंगाली कहा जाता है या यों कहा जाय कि जिन व्यक्तियों की मातृभूमि या जन्मभूमि बंगाल है, वह बंगाली कहलाता है। स्पष्ट है, इस वाक्य का अर्थ ''बंगाली बहादुर है'' है। इसी प्रकार ''भ्रमर घूमता है'' कहा जाय,तो इसका अर्थ उस व्यक्ति से है जो पर्यटक के रूप में घूमता रहता है। भ्रमर का मुख्य (अभिधा) अर्थ भौंरा है, लेकिन इसका लक्षणा अर्थ पर्यटक है। भ्रमर फूलों के इर्द-गिर्द घूमता है। इसलिए भ्रमर का लक्षणा अर्थ उस व्यक्ति से भी हो सकता है, जो सुन्दरता के आसपास घूमता हो अर्थात् सौन्दर्यशास्त्री। पर्यटक पर्यटन स्थल के सौन्दर्य को ही देखना चाहता है। अतएव पर्यटक का अर्थ भी सौन्दर्यपारखी से लिया जा सकता है। ये अर्थ भ्रमर के लक्षणार्थ हैं। यहाँ भ्रमर स्वयं एक लक्षणा के रूप में प्रयुक्त है। इसलिए इसे लक्षित लक्षणा कहा गया है। डॉ॰ विजयपालशास्त्री ने कहा है कि ''अपने लक्ष्यभूत ''भ्रमर'' शब्द के वाच्यार्थ ''भौंरा'' में जब ''द्विरेफ'' पद की लक्षणा की जाती है, तो उसे लक्षित लक्षणा कहते हैं।''[57] द्विरेफ का तात्पर्य दो 'र' वर्णवाले शब्द (भ्रमर आदि) से है।

प्राचीन नैयायिकों ने उपादान और लक्षण लक्षणा को स्वीकारा है। किन्तु नव्य नैयायिकों ने इन दोनों लक्षणा को क्रमशः अजहत् लक्षणा और जहत् लक्षणा कहा है। इन दोनों लक्षणा में वही अन्तर है जो अजहत् और जहत् लक्षणा में है। उपादान लक्षणा में शब्द का मुख्य अर्थ बाधित नहीं होता है, जबकि लक्षण लक्षणा में मुख्य अर्थ का बाध होता है और एक नया अर्थ प्राप्त होता है।

सारोपा एवं साध्यवासना लक्षणा

जब किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्द का अर्थ अन्य शब्द के अर्थ के आरोप या आक्षेप द्वारा अभिव्यक्त होता है और वह अन्य शब्द मूल शब्द के अर्थ को नहीं निगलता है, तो उसे सारोपा लक्षणा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सारोपा लक्षणा में शब्द का मूल अर्थ बना रहता है, किन्तु वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उस शब्द में अन्य शब्द का आरोप या आक्षेप किया जाता है। आरोपित अर्थ सारोपा लक्षणा है। उदाहरण के लिए ''भोजन ईश्वर है''। भोजन के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। अतः भोजन जीने की शक्ति है। इसलिए उसे ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर भी जीवनीशक्ति है। संभवतः यही कारण है कि अन्न को देवता माना गया है। भोजन अन्न द्वारा ही प्राप्त होता है। उपनिषदों में 'अन्नमय कोश' की कल्पना की गयी है, जिसे आत्मा का एक रूप बतलाया गया है। आत्मा ही जीवन या जीवनशक्ति है। अतएवं यहाँ 'भोजन' का मूल अर्थ (अभिधा) को बनाये रखकर उस पर अन्य अर्थ (ईश्वर) आरोपित किया जाता है। वस्तुतः सारोपा लक्षणा में तादात्म्य भाव से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। भोजन और ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध दिखलाया गया है। यहाँ ईश्वर भोजन की विशेषता के रूप में प्रयुक्त है और विशेषण सदैव विशेष्य में निहित रहता है। इस दृष्टिकोण से भी यहाँ तादात्म्य भाव परिलक्षित है। अतएव तादात्म्य भाव से अभिव्यक्त लक्षणार्थ सारोपा लक्षणा कहलाता है।

---

57. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साध्यवासना लक्षणा वह है जिसमें आरोपित या अपेक्षित शब्द आरोप्य या आपेक्ष्य (मूल) शब्द के अर्थ (अभिधा) को पूर्णतः निगल जाता है और अन्य अर्थ अभिव्यक्त करता है। उदाहरण के लिए "कांटों को नष्ट करो"। यहाँ कांटों का मूल अर्थ जंगल-झाड़ी मे या रास्ते पर पाया जानेवाला प्राकृतिक कांटा नहीं है, न ही गुलाब के पौधों में लगा कांटा है, वरन् कांटा का लक्षणार्थ "दुश्मन" है। यहाँ 'कांटा' का मूल (अभिधा) अर्थ नहीं रहता, वरन् मात्र लक्षणा अर्थ 'दुश्मन' दीखता है। इसलिए इस वाक्य का अर्थ "दुश्मनों को नष्ट करो" है। कांटा और दुश्मन में तादात्म्य भाव नहीं है, बल्कि समानता अवश्य है। जिस प्रकार कांटा कष्ट देता है, उसी प्रकार दुश्मन भी कष्टकारक है। इसी समान भाव द्वारा "दुश्मन" शब्द "कांटा" शब्द के अर्थ को पूर्णतः निगल जाता है। कांटा आरोप्य है और दुश्मन आरोपित है।

व्यंजना

'अंजन' शब्द में 'वि' उपसर्ग लगने पर 'व्यंजना' शब्द बनता है। वि का अर्थ विशेष है और अंजन का अर्थ काजल है। काजल आंखों में लगाया जाता है जिससे उनकी सुन्दरता में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार शब्द के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए व्यंजना का प्रयोग किया जाता है। अतः व्यंजना को एक विशेष प्रकार का अर्थ कहा जाता है। इस अर्थ का प्रयोग साधारणतः काव्य में होता है। किन्तु हम अपने दैनिक जीवन में भी बोलचाल की भाषा में इसका प्रयोग करते हैं। इस अर्थ का प्रयोग उस समय होता है जब किसी शब्द को वाच्यार्थ (अभिधा) और लक्ष्यार्थ (लक्षणा) द्वारा नहीं जाना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि अभिधा और लक्षणा की सीमा के परे होने पर ही व्यंजना का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए "सूर्य डूब चुका है।" इस वाक्य का अभिधा अर्थ स्पष्ट है कि शाम हो गयी है। परन्तु इसका लक्षणा अर्थ है कि किसी विशेष क्षेत्र (साहित्य, दर्शन, गणित, विज्ञान, कला, राजनीति, संगीत, अध्यात्म आदि) का लब्धप्रतिष्ठित व्यक्ति मर चुका है। किन्तु इस वाक्य का अन्य अर्थ भी है जो अभिधा और लक्षणा के परे है। जैसे— छात्रों के संदर्भ में इस वाक्य का अर्थ है कि अब पढ़ाई बन्द करो। चरवाहों के संदर्भ में इसका अर्थ है कि पशुओं को चारागाह से वापस कर घर लाओ। वेश्याओं के संदर्भ में इसका अर्थ है कि अब साज-शृंगार करो, तुम्हारे काम का समय हो गया है। इत्यादि। एक वाक्य के अनेक अर्थ हैं और ये सभी अर्थ संदर्भगत हैं। अतः व्यंजना का आधार अनेकार्थक शब्द है और व्यंजना का क्षेत्र असीम है। इसलिए व्यंजना को परिभाषित करना असम्भव है। फिर भी कामचलाऊ परिभाषा के रूप में व्यंजना को "किसी शब्द का वह अर्थ माना जा सकता है जो कभी अभिधा अर्थ और कभी लक्षणा अर्थ पर आधारित होता है और कभी अभिधा और लक्षणा से स्वतंत्र होकर निरपेक्ष अर्थ प्रदान करता है।" यहाँ 'निरपेक्ष' का अर्थ तटस्थ नहीं है, बल्कि संदर्भगत है। विश्वनाथ पंचानन के अनुसार, "जब अभिधा और लक्षणा शब्दशक्तियाँ क्रमशः वाच्य और लक्ष्य अर्थ का बोध करा लेने के बाद विरत हो जाती है, तब जो शक्ति अन्य अर्थ का बोध कराती है उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। यह शक्ति शब्द में भी रहती है और वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों में भी।"[58] स्पष्ट है कि व्यंजना का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक है।

---

58. विश्वनाथ पंचानन, उपर्युक्त, 2.12.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यंजना के प्रकार

अलंकारशास्त्रियों ने व्यंजना के दो अर्थों का उल्लेख किया है— शाब्दी व्यंजना और अर्थी व्यंजना। विश्वनाथ द्वारा दी गयी व्यंजना की उक्त परिभाषा में स्पष्ट कहा गया है कि व्यंजना शक्ति शब्द में भी रहती है और शब्द के अर्थ में भी। इसलिए व्यंजना को शाब्दी और अर्थी दो वर्गों में विभाजित किया गया है। जब व्यंजना शक्ति शब्द में हो अर्थात् मात्र शब्द द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति हो, तो उसे शाब्दी व्यंजना कहते हैं। जैसे— ''भूधर से दूर रहो।'' भूधर का अभिधा अर्थ पर्वत है। पर्वत की ऊँचाई इतनी अधिक होती है कि उस ऊँचाई तक विरले ही जा पाता है। किन्तु भूधर का अर्थ राजा (शासक) भी होता है। राजा या शासक तक आम जनता की पहुंच नहीं होती है। जिस तरह दूर से ही पर्वत देखने लायक होता है, उसी प्रकार राजा या शासक से दूर रहना ही अच्छा है। शासक की नजदीकियाँ प्रायः हानिकारक होती हैं। अतएव इस वाक्य का व्यंजना अर्थ ''राजा (शासक) से अच्छी-खासी दूरी बनाकर रहो'' है। यहाँ वाक्य का अर्थ एक शब्द (भूधर) पर आधारित है। इसलिए यह शाब्दी व्यंजना है। परन्तु ''सूर्य डूब चुका है।'' वाक्य का अर्थ सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ पर निर्भर करता है, न कि एक शब्द 'सूर्य' के अर्थ पर। इसलिए इस वाक्य का अर्थ अर्थी व्यंजना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि अर्थी व्यंजना वह है जिसमें व्यंजना शक्ति सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ में निहित रहती है।

शाब्दी व्यंजना—चूँकि शाब्दी व्यंजना शब्द की अभिधा और लक्षणा शक्तियों पर निर्भर है, इसलिए उसके दो प्रकार माने गये हैं— अभिधामूलक व्यंजना तथा लक्षणामूलक व्यंजना। जब व्यंजना शब्द की अभिधा शक्ति पर आधारित रहती है, तो उसे अभिधामूलक व्यंजना कहते हैं। जब व्यंजना लक्षणा शक्ति पर निर्भर करती है, तो वह लक्षणामूलक व्यंजना कहलाती है। ''भूधर से दूर रहो'' वाक्य का अर्थ अभिधामूलक व्यंजना से अभिहित होता है। 'भूधर' का अभिधा अर्थ 'पर्वत' है। शासक (राजा) भी पर्वत के समान ऊँचे व्यक्तित्ववाला कठोर पुरुष होता है। वह अपने निर्णय में पर्वत के समान ही अटल और निश्छल होता है। इसलिए उसे ''भूधर' कहा जाता है। यहाँ शब्द 'भूधर' के मूल अर्थ (अभिधा) द्वारा ही व्यंजना अर्थ को स्पष्ट किया गया है। इसलिए इस वाक्य का अर्थ अभिधामूलक व्यंजना है। भूधर का एक से अधिक अर्थ है। यही कारण है कि विश्वनाथ ने ''अनेकार्थक शब्दों के संयोग, वियोग आदि के आधार पर एक अर्थ के निर्धारण के पश्चात अन्य अर्थ की प्रतीति करानेवाली शक्ति'' को अभिधामूलक व्यंजना कहा है।[59] अन्य अर्थ का तात्पर्य व्यंग्यरूप अर्थ है। इस अर्थ की अभिव्यक्ति कई तत्त्वों पर निर्भर करती है। सिद्धान्त मुक्तावली में विश्वनाथ पंचानन ने चौदह तत्त्वों का उल्लेख किया है। वे तत्त्व हैं— संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य पद की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर।[60] उन्होंने स्वर के बाद ''आदि'' शब्द का भी प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि इन चौदह तत्त्वों के अतिरिक्त चेष्टा आदि अनेक गौण तत्त्वों को भी अभिधामूलक व्यंजना की अभिव्यक्ति में सहायक माना गया है। वस्तुतः ये सभी तत्त्व अनेकार्थक शब्दों के एक-एक अर्थ को नियंत्रित करते हैं। भर्तृहरि ने भी इन तत्त्वों को अभिधामूलक व्यंजना का आधार माना है।

---

59. विश्वनाथ पंचानन, उपर्युक्त, 2.14.
60. डॉ॰ शोभाकान्त मिश्र, शब्दार्थतत्त्व, पृ॰ 356

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयोग—'अर्जुन' शब्द का अर्थ एक वृक्ष का नाम या महाभारत का नायक अर्जुन से है। यहाँ अर्जुन का अर्थ एक नहीं, वरन् एक से अधिक है। ऐसी स्थिति में 'अर्जुन' शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। परन्तु 'अर्जुन' शब्द के साथ 'गाण्डीव' शब्द जोड़ दिया जाता है, तो इस शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गाण्डीव उस धनुष को कहा जाता है जिसका उपयोग अर्जुन ने किया था। अतएव गाण्डीव के साथ अर्जुन शब्द को जोड़ देने से गाण्डीवधारी अर्जुन अर्थात् महाभारत का नायक अर्जुन का अर्थ स्पष्ट होता है।

वियोग—इसी तरह ''अर्जुन गाण्डीवविहीन है'' वाक्य में प्रयुक्त शब्द भी महाभारत का नायक अर्जुन का अर्थ ही अभिव्यक्त करता है, न कि अर्जुन नामक वृक्ष। यहाँ अर्जुन के साथ गाण्डीव का वियोग दिखलाया गया है। वृक्ष के साथ गाण्डीव का संयोग या वियोग दोनों असम्भव है। अतः यहाँ अर्जुन का एकार्थ वियोग द्वारा निश्चित किया जाता है, जबकि अर्जुन का एक से अधिक अर्थ है।

साहचर्य—यदि 'अर्जुन' शब्द का प्रयोग 'भीम' शब्द के साथ किया जाय, तो अर्जुन का अर्थ वृक्ष न होकर भीम का भाई अर्जुन (महाभारत का नाम) अर्थ ही अभिव्यक्त होता है। भीम-अर्जुन साहचर्य पद हैं, जो अर्जुन के एकार्थ को निश्चित करता है, यद्यपि अर्जुन शब्द का एक से अधिक अर्थ है।

विरोध—यदि 'अर्जुन' शब्द का प्रयोग 'कर्ण' शब्द से किया जाय, तो भी महाभारत का नायक अर्जुन का ही अर्थ अभिव्यक्त होता है। कर्ण अर्जुन का विरोधी है। 'कर्ण-अर्जुन' कहने से कदापि अर्जुन नामक वृक्ष का अर्थ अभिहित नहीं होता है। अतएव विरोध द्वारा भी अभिधामूलक व्यंजना की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थ—'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु और बन्दर दोनों से है। विष्णु ईश्वर का एक रूप है जो सृष्टि का पालन करता है। अतएव 'हरि' शब्द कहने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। परन्तु कहा जाय कि ''हरि की पूजा करो'', तो 'हरि' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हरि का अर्थ विष्णु है, न कि बन्दर। यहाँ शब्द का अर्थ उद्देश्य या प्रयोजन द्वारा निर्धारित होता है। 'पूजा करना' प्रयोजन है। इसी प्रयोजन द्वारा 'हरि' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो रहा है। अतएव यहाँ 'अर्थ' तत्त्व का तात्पर्य प्रयोजन से लिया गया है।

प्रकरण—'सैंधव' शब्द का अर्थ घोड़ा और नमक दोनों है। यदि कोई कहता है कि सैंधव लाओ, तो स्पष्ट नहीं हो पाता है कि घोड़ा लाया जाय या नमक। परन्तु भोजन के समय इस वाक्य का प्रयोग किया जाय, तो इसका अर्थ घोड़ा नहीं, नमक होगा। अतः प्रकरण द्वारा भी एक से अधिक अर्थवाले शब्दों का एकार्थ निश्चित किया जाता है।

लिंग—'मधु' शब्द का अर्थ शहद और दैत्य दोनों है। शहद के रूप में मधु नपुंसक लिंग है, जबकि दैत्य के रूप में यह पुल्लिग है। 'मधु' किसी लड़की का भी नाम हो सकता है। लड़की के रूप में मधु स्त्रीलिंग है। अतः मधु का अर्थ लिंग के स्पष्टीकरण पर निर्भर है। 'मधु देखता है' कहा जाय, तो मधु का अर्थ न तो शहद है न लड़की, क्योंकि इसका प्रयोग पुल्लिग में किया गया है। अतः मधु का अर्थ दैत्य है। स्पष्ट है कि अनेकार्थक शब्द के निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति लिंग पर निर्भर करती है।

अन्य पद की सन्निधि—'मधु' शब्द का अर्थ शहद, दैत्य और लड़की का नाम हो सकता है। परन्तु 'मधु' शब्द के साथ दूसरा पद या शब्द 'सूदन' जोड़ दिया जाय, तो शब्द होगा— मधुसूदन। मधुसूदन का अर्थ न शहद है न लड़की का नाम, बल्कि दैत्य का विनाश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करनेवाला है। 'मधु' नामक दैत्य का संहार तो विष्णु ने किया था। अतः मधुसूदन का अर्थ भगवान विष्णु से लिया जाता है। यहाँ 'मधु' शब्द का अर्थ अन्य पद 'सूदन' की सन्निधि से स्पष्ट होता है।

सामर्थ्य—'महिषी' का अर्थ भैंस और रानी दोनों है। अतः 'महिषी' शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। परन्तु कहा जाय कि "महिषी गा रही है", तो इस शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गाने की क्षमता या सामर्थ्य भैंस में कदापि नहीं है। यह क्षमता या सामर्थ्य तो रानी में ही है। अतएव सामर्थ्य के आधार पर 'महिषी' शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है और वह अर्थ है रानी, न कि भैंस।

औचित्य—किसी शब्द का अर्थ औचित्य पर भी निर्भर करता है। यदि कोई कहता है कि "महिषी को सम्मान दो", तो इस वाक्य में प्रयुक्त 'महिषी' शब्द का अर्थ रानी है, न कि भैंस। भैंस को सम्मान देने का कोई औचित्य नहीं है। सम्मान की पात्र रानी है, न कि भैंस। अतः रानी को सम्मान देना उचित है। इसलिए यहाँ महिषी का अर्थ 'रानी' से लिया जाना उपयुक्त और संगत है।

देश—'चित्रभानु' का अर्थ सूर्य और आग दोनों है। ऐसी स्थिति में इस शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। परन्तु "आकाश में चित्रभानु को देखो" कहा जाय, तो इस वाक्य में प्रयुक्त शब्द 'चित्रभानु' का अर्थ 'आकाश' शब्द पर आधारित है। आकाश देश है जहाँ चित्रभानु अर्थात् सूर्य अवस्थित है। अतः इस वाक्य में प्रयुक्त 'चित्रभानु' पद का अर्थ आग नहीं, वरन सूर्य है।

काल—"रात में चित्रभानु देखो" कहा जाय, तो इस वाक्य में प्रयुक्त 'चित्रभानु' का अर्थ सूर्य नहीं है, बल्कि आग है। रात काल का द्योतक है। रात में सूर्य अदृश्य रहता है। अतः रात में सूर्य नहीं, आग ही देखा जा सकता है। अतएव काल के आधार पर भी किसी शब्द का अर्थ अभिव्यक्त होता है, यदि वह अनेकार्थक शब्द है।

व्यक्ति—'स्थाणु' शब्द का अर्थ ठूंठ वृक्ष (सूखा पेड़) तथा शिव दोनों है। यदि कोई शिवभक्त व्यक्ति (शैव) कहता है कि "स्थाणु को याद करो", तो यहाँ स्थाणु का अर्थ ठूंठ वृक्ष नहीं है बल्कि शिव भगवान है। यह अर्थ 'व्यक्ति' पर आधारित है।

स्वर—यदि किसी शब्द का उच्चारण स्वर के विभिन्न उतार-चढ़ाव द्वारा होता है, तो उस शब्द के अर्थ भी विभिन्न स्वरों के अनुसार हो जाते हैं। जैसे— "इन्द्र शत्रु का नाश हो।" यदि इस वाक्य में प्रयुक्त 'इन्द्र' शब्द के उच्चारण या स्वर पर बल दिया जाता है, तो इस वाक्य का अर्थ होता है— "इन्द्र नामक शत्रु को मारो।" परन्तु यदि 'शत्रु' शब्द के उच्चारण या स्वर पर बल दिया जाता है, तो इस वाक्य का अर्थ होता है कि "इन्द्र के शत्रु को मारो।" यहाँ एक ही वाक्य के दो अर्थ स्वर-भेद के कारण होते हैं। अतएव अभिधामूलक व्यंजना की अभिव्यक्ति स्वर-भेद[61] पर भी आधारित है।

---

61. स्वर के तीन भेद किये जाते हैं— उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। ये भेद वैदिक भाषा में किये जाते हैं। आधुनिक भाषा में स्वर-भेद को समाप्त कर दिया गया है।— डॉ॰ शोभाकान्त मिश्र, उपर्युक्त, पृ॰ 358

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिधामूलक व्यंजना की अभिव्यक्ति के उपर्युक्त तत्त्वों के स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि इस व्यंजना में निहित शब्दशक्ति तात्पर्यशक्ति है। दूसरी बात यह है कि अभिधामूलक व्यंजना का प्रयोग अनेकार्थक शब्दों के अर्थ को स्पष्ट और सुनिश्चित करने के लिए होता है।

लक्षणामूलक व्यंजना का उदाहरण है— "गंगा में गांव है।" यहाँ 'में' का अभिधार्थ नहीं लेकर लक्षणार्थ लिया गया है अर्थात् गंगा के किनारे गांव है। किन्तु 'गंगा' शब्द की विशेषता के आधार पर इस वाक्य का अर्थ होता है— "गाँव शीतल, शान्त और पवित्र है।" यह अर्थ व्यंजना है, क्योंकि यहाँ गंगा का अर्थ शीतलता, शान्ति और पवित्रता से लिया गया है। इस अर्थ को प्रयोजनवती लक्षणा भी कहा जाता है। अतएव लक्षणामूलक व्यंजना प्रयोजनवती लक्षणा का पर्याय है। प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग किसी निश्चित प्रयोजन या उद्देश्य के लिए किया जाता है। अतः लक्षणामूलक व्यंजना भी प्रयोजन या उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त होता है। रूढ़ि लक्षणा के अतिरिक्त लक्षणा के जितने भी प्रकार बतलाये गये हैं, वे सभी प्रयोजनवती लक्षणा के अंतर्गत ही आते हैं। अतएव लक्षणामूलक व्यंजना के भी कई प्रकार हो जाते हैं जिन्हें निम्नलिखित तालिका से दिखलाया जा सकता है—

लक्षणामूलक व्यंजना (प्रयोजनवती लक्षणा)

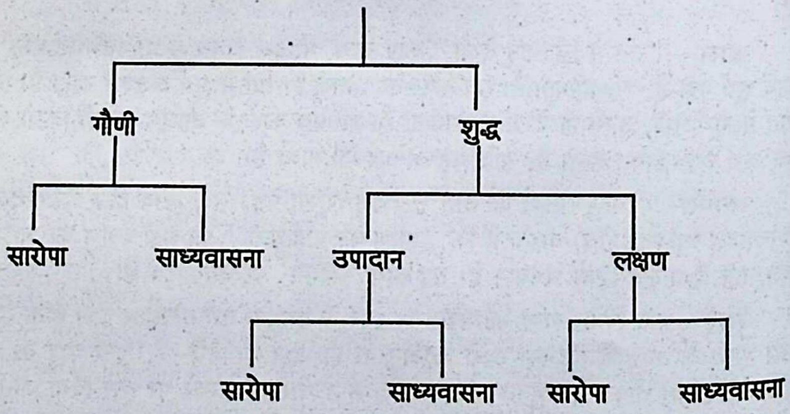

यह तालिका स्पष्ट करती है कि लक्षणामूलक व्यंजना (प्रयोजनवती लक्षणा) के मुख्यतः दो प्रकार हैं— गौणी और शुद्ध। पुनः शुद्ध के दो उपभेद हैं— उपादान और लक्षण। उपादान और लक्षण के भी क्रमशः दो-दो उपभेद सारोपा और साध्यवासना के रूप में पाये जाते हैं। गौणी के भी दो उपभेद सारोपा और साध्यवासना है। उपादान लक्षणा को अजहत् लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा को जहत् लक्षणा कहा जाता है। अतएव अजहत्, जहत् तथा जहदजहल्लक्षणा भी प्रयोजनवती लक्षणा के अंतर्गत ही आते हैं।

आर्थी व्यंजना—जब किसी वाक्य का अर्थ वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द विशेष के अर्थ पर निर्भर न होकर सम्पूर्ण वाक्य में निहित शक्ति के आधार पर उस वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, तो उस निहित शक्ति को आर्थी व्यंजना कहते हैं। आर्थी व्यंजना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न तत्त्वों या शर्त्तों पर आधारित है। विश्वनाथ ने उन शर्तों का उल्लेख 'साहित्य दर्पण'' में किया है। वे शर्त्त हैं— वक्ता, बौद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य वाक्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि।[62] वक्तृत्व कला से वैशिष्ट्य को वक्ता कहा जाता है। प्रतिपाद्य विषय को बौद्धव्य कहा गया है। काकु का तात्पर्य ध्वनि-विकार है। वाच्य शब्द का मुख्य अर्थ है। अन्य वाक्य का तात्पर्य वक्ता और प्रतिपाद्य विषय से भिन्न वाक्य है। ऐसे वाक्य और वाच्य के सामीप्य को अन्य वाक्य सन्निधि कहा गया है। प्रस्ताव का तात्पर्य प्रकरण या संदर्भ से है। मम्मट भट्ट ने भी इन सभी तत्त्वों या शर्त्तों को आर्थी व्यंजना के लिए आवश्यक माना है।[63] साथ ही आर्थी व्यंजना को अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ) का अन्यार्थ प्रत्ययात्मक व्यापार भी माना है।[64] इन तत्त्वों के आधार पर आर्थी व्यंजना के दस भेद किये गये हैं। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के आधार पर पुनः इन दस व्यंजनाओं के तीन-तीन भेद किये गये हैं। इस प्रकार आर्थी व्यंजना के कुल भेद तीस हो जाते हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ अप्रांसगिक और असंभव है। परन्तु आर्थी व्यंजना को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है जिसे ऊपर की पंक्तियों में दर्शाया गया है। वह उदाहरण है— सूर्य डूब चुका है। इस वाक्य का अर्थ 'सूर्य' शब्द के अर्थ से स्पष्ट नहीं होता है, बल्कि समग्र रूप में पूरे वाक्य में निहित व्यंजनाशक्ति द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस शक्ति द्वारा इस वाक्य के अनेक अर्थ अभिहित होते हैं—

1. मैं अब नहीं खाऊँगा। (जैन धर्म माननेवाला इस अर्थ को स्वीकारता है।)
2. मैं अब खाऊँगा। (रोजा रखनेवाले इस्लाम धर्मावलम्बी व्यक्ति इस अर्थ को स्वीकारता है।)
3. अब आपको बाहर जाना चाहिए। (शाम में टहलनेवाले व्यक्ति के लिए यह अर्थ उपयुक्त है।)
4. अब आपको बाहर नहीं जाना चाहिए। (रतौंधी नामक रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए यह अर्थ उपयुक्त है।)
5. अब लालटेन या बल्ब जलाओ। (गृहिणियों के लिए यह अर्थ अभिहित होता है।)
6. अब अपने को सजाओ। (वेश्याओं के लिए यह अर्थ अभिहित होता है।)
7. शाम की पूजा की तैयारी कीजिए। (मंदिरों के संदर्भ में यह अर्थ अभिव्यक्त है।)
8. रात्रि कार्य के लिए तैयार हो जाओ। (चोरों के संदर्भ में यह अर्थ अभिव्यक्त है।)
9. अब जंगल छोड़ने का समय हो गया है। (जंगल में लकड़ी काटनेवाले के संदर्भ में यह अर्थ उपयुक्त है।)
10. जंगल में प्रवेश करने का समय हो गया है। (शिकारी के लिए यह अर्थ उपयुक्त है।)

एक वाक्य के इन विभिन्न अर्थों का आधार देश, काल, परिस्थितियाँ आदि हैं।

---

62. विश्वनाथ पंचानन, उपर्युक्त, 12.16.
63. मम्मट भट्ट उपर्युक्त, 3.21–33.
64. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना में अन्तर

मम्मट भट्ट ने अभिधा और व्यंजना, तथा, लक्षणा और व्यंजना में निम्नलिखित अन्तर बतलाया है—

(i) किसी शब्द का अभिधा अर्थ निश्चित रहता है। यह शब्द की शक्ति या मुख्य अर्थ है। इसे प्रचलित या रूढ़ अर्थ भी कहा जा सकता है। अभिधा को संकेतार्थ भी कहा जाता है।

किसी शब्द का व्यंजना अर्थ अनिश्चित होता है। यह देश, काल, परिस्थिति आदि पर निर्भर करता है। प्रकरण या प्रसंग, प्रयोजन, वक्ता का तात्पर्य आदि द्वारा किसी शब्द का व्यंजनार्थ अभिहित होता है। इसलिए इसे रूढ़ या प्रचलित अर्थ नहीं कहा जाता है।

स्पष्ट है कि अभिधा और व्यंजना दोनों अर्थों में भिन्नता है। कभी-कभी तो इनमें इतनी अधिक भिन्नता होती है कि दोनों को समान मानना आत्मघाती होता है। जैसे— ''जहर लो, लेकिन उसके घर में खाना मत खाओ।'' यदि इस वाक्य का अभिधार्थ लिया जाय, तो इसका अर्थ होगा कि उसके घर में खाना खाने से अच्छा है जहर खा लेना। परन्तु इस वाक्य में निहित तात्पर्य 'जहर खाना' नहीं है, बल्कि उसके घर में कभी ख़ाना नहीं खाना है। यहाँ 'जहर' शब्द पर बल दिया गया है जिसका अर्थ ''कभी नहीं'' से है। इस वाक्य के दो भाग हैं— (i) जहर लो (ii) उसके घर में खाना मत खाओ। वस्तुतः ये दोनों भाग अलग-अलग अर्थ प्रदान नहीं करते हैं, बल्कि एक ही (समग्र) अर्थ प्रदान करते हैं। इस वाक्य में ''जहर'' का वाच्यार्थ या अभिधा अर्थ उसके तात्पर्य अर्थ या व्यंजनार्थ से बिल्कुल विपरीत है।

(ii) (क) लक्षणा अर्थ भी अभिधा अर्थ के समान निश्चित होता है। इसलिए उसे नित्यार्थ भी कहते हैं।

परन्तु व्यंजना अर्थ अनिश्चित होता है। इसलिए इसे नित्यार्थ नहीं कहा जाता है।

(ख) जब किसी शब्द का मुख्य अर्थ बाधित होता है, तब लक्षणा अर्थ होता है। किन्तु व्यंजना अर्थ में ऐसी बात नहीं होती है, अर्थात् मुख्य अर्थ बाधित हुए बिना ही व्यंजना अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

(ग) यद्यपि लक्षणा मुख्य अर्थ के बाधित होने पर होती है, फिर भी वह मुख्य अर्थ से सम्बन्धित रहती है। इसलिए लक्षणा को अभिधा का 'पुच्छीभूत' (पूंछ) कहा जाता है।

किन्तु व्यंजना अभिधा का पुच्छीभूत सदैव नहीं होता है। वह कभी अभिधा (मुख्य अर्थ) से सम्बन्धित रहता है, कभी स्वतंत्र रूप में रहता है अर्थात् मुख्य अर्थ से सम्बन्धित नहीं रहता है।

(घ) लक्षणा सदैव प्रयोजनवती नहीं होती है। वह रूढ़ भी होती है। प्रयोजनवती लक्षणा लक्षणामूलक व्यंजना कहलाती है।

परन्तु व्यंजना, चाहे अभिधामूलक या लक्षणामूलक (शाब्दी) हो या आर्थी हो, सदैव प्रयोजनयुक्त होती है। प्रयोजन या तो स्पष्ट या गूढ़ (प्रच्छन्न) होता है।

(ङ) व्यंजना का क्षेत्र लक्षणा की अपेक्षा अधिक व्यापक है। लक्षणा केवल मुख्य अर्थ से सम्बन्धित है। परन्तु व्यंजना कभी मुख्य अर्थ (अभिधा), कभी लक्षणा अर्थ और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कभी स्वतंत्ररूप से युक्त रहती है। तात्पर्य यह है कि व्यंजना मुख्य अर्थ और लक्षणा अर्थ से सम्बन्धित भी है और दोनों से स्वतंत्र भी है।

(iii) अभिधा और लक्षणा का अन्तर उपर्युक्त शब्दों से ही स्पष्ट हो जाता है। अभिधा मुख्य और निश्चित अर्थ है। लक्षणा गौण और निश्चित अर्थ है। लक्षणा मुख्य अर्थ को बाधित करते हुए भी अभिधा (मुख्य अर्थ) से सम्बन्धित है।

व्यंजना मुख्य अर्थ को बाधित नहीं करती है। इसका सम्बन्ध अभिधा और लक्षणा दोनों से है। परन्तु यह दोनों से स्वतंत्र भी है। अतः अभिधा भी व्यंजना से व्यापक नहीं है। लक्षणा अभिधा की अपेक्षा व्यापक है। "अभिधा एक सीमा तक पहुँच कर रूक जाती है। लक्षणा का व्यापार वहाँ से आरम्भ होता है और वह उससे सम्बद्ध कुछ आगे तक के अर्थ का बोध करा लेने के बाद विरत हो जाती है।"[65]

यद्यपि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में अन्तर है, परन्तु यह अन्तर ऐसा नहीं है कि उनमें परस्पर सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सके अर्थात् शब्द की ये तीनों शक्तियाँ एक-दूसरे से आबद्ध रहती हैं। एक ही शब्द के तीन अर्थ होते हैं जिसकी उपमा धनुष से निकले हुए एक बाण से दी जाती है। कहा गया है कि जिस प्रकार धनुष से छोड़ा गया एक बाण पहले शत्रु के कवच को भेदता है, फिर उसके वस्त्र को और अन्त में उसके हृदय को भेद कर उसकी जान लेता है, उसी प्रकार शब्द की एक ही शक्ति उसके अभिधार्थ (वाच्यार्थ), लक्षणार्थ (लक्ष्यार्थ) तथा व्यंजनार्थ (व्यंग्यार्थ) को स्पष्ट करती है। वह पहले वाच्यार्थ बतलाती है, फिर लक्ष्यार्थ को सूचित करती है और अन्ततः व्यंग्यार्थ को आपादित करती है। भट्ट लोल्लट द्वारा दी गयी इस उपमा के आधार पर कहा जा सकता है कि लक्षणा और व्यंजना नामक शब्दवृत्तियों की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि अभिधा शक्ति से ही तीनों अर्थ अभिव्यंजित होते हैं, तो फिर अन्य दो वृत्तियाँ व्यर्थ हैं। कहा गया है— यत्परः शब्दः स शब्दार्थः[66] अर्थात् शब्द जिस अर्थ का बोध कराने के उद्देश्य से प्रयुक्त होता है, वही उसका अर्थ होता है, अभिधा उस सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ का बोध करा सकती है। परन्तु मम्मट भट्ट भट्ट लोल्लट की इस आलोचना का उत्तर देते हुए कहता है कि वस्तुतः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को एक ही अर्थ-शक्ति के रूप में नहीं देखा जा सकता है। उन्होंने शब्द की इन तीन शक्तियों में अन्तर बतलाया है, जिसका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में किया गया है।

अभिधा और व्यंजना में इतना अन्तर होता है कि व्यंजना में "हाँ" का अर्थ "नहीं" और "नहीं" का अर्थ "हाँ" हो जाता है, जबकि अभिधा में "हाँ" का अर्थ "हाँ" और "नहीं" का अर्थ "नहीं" ही होता है। अतएव शब्द की तीनों शक्तियाँ मात्र एक नहीं हैं। धनुष से निकले हुए बाण की तरह शब्द-शक्तियाँ एक समान नहीं होतीं।

महिमा भट्ट ने अपनी पुस्तक "व्यक्तिविवेक" में बतलाया है कि व्यंजना को शब्द की स्वतंत्र शक्ति मानना व्यर्थ है, क्योंकि यह अनुमान में अन्तर्भावित हो जाती है। उनके अनुसार व्यंजना अर्थ अनिवार्यतः अभिधा अर्थ से उसी प्रकार सम्बद्ध रहता है, जिस प्रकार हेतु और साध्य अनुमान की प्रक्रिया में परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। हेतु और साध्य का सम्बन्ध अनिवार्य होता है, जिसे व्याप्ति कहते हैं। यह निश्चित और अनौपाधिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार अभिधा

---

65. डॉ॰ शोभाकान्त मिश्र, उपर्युक्त पृ॰ 353
66. मम्मट भट्ट, उपर्युक्त, 5.47.69

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(हेतु) और व्यंजना (साध्य) में व्याप्ति सम्बन्ध पाया जाता है। इसे नियत व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध कहा जाता है। परन्तु मम्मट भट्ट ने महिमा भट्ट के इस विचार की आलोचना की है। उन्होंने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा इस बात का खंडन किया है कि व्यंजना अनुमान में अन्तर्भावित है, अर्थात् व्यंजना अनुमान है। वह उदाहरण है कि एक खूबसूरत और चालाक लड़की एक अनचाहा प्रेमी से छुटकारा पाना चाहती है। वह उस प्रेमी को कायर समझती है। इसलिए उससे प्रेम नहीं करती है। फिर भी, वह लड़का (तथाकथित प्रेमी) उसके पीछे ही लगा रहता है और सदैव अपने प्यार का इजहार करता रहता है। उस चालाक और बुद्धिमान लड़की ने बहुत ही चालाकी से उस तथाकथित प्रेमी से छुटकारा पाने के लिए एक दिन कहा कि "अब तुम मेरे घर निस्संकोच बिना भय के लगातार आ सकते हो, क्योंकि जिस कुत्ता से तुम्हें डर लगता था, उसे कल रात एक बाघ ने मार डाला, जो आजकल मेरे घर के पास रहता है।" इस कथन में स्पष्ट रूप से तथाकथित प्रेमी को उस लड़की ने अपने घर आने से मना किया। यह भावात्मक कथन है, परन्तु इसका अर्थ निषेधात्मक है। यदि इसका भावात्मक (अभिधा) अर्थ लिया जाय, तो यह असंगत होगा क्योंकि इसमें आपादित अर्थ तो व्यंजनात्मक है। अतः यहाँ व्यंजना अर्थ ही अभिप्रेत है, न कि अभिधा अर्थ।

यदि व्यंजना को अनुमान माना जाय, तो उसका स्वरूप होगा— "वह स्थान जहाँ बाघ निरन्तर रहता हो, तुम्हारे जैसे डरपोक को वहाँ नहीं जाना चाहिए।"

— वृहत् आधारवाक्य

यह स्थान वैसा ही है। — लघु आधारवाक्य

इसलिए यह स्थान तुम्हारे जैसे डरपोक को नहीं जाना चाहिए। — निष्कर्ष

यदि इस अनुमान का विश्लेषण किया जाय, तो यहाँ तीन पद पाये जाते हैं— वह (यह) स्थान, बाघ की निरन्तरता, तुम्हारे जैसा डरपोक। तुम्हारे जैसा डरपोक वृहत् पद है, बाघ की निरन्तरता मध्य पद है, और यह (वह) स्थान लघु पद है। अनुमान के नियमानुसार लघु पद केवल लघु आधारवाक्य और निष्कर्ष तर्कवाक्यों में ही पाया जाता है। यहाँ लघु पद वृहत् आधारवाक्य में भी वर्तमान है। अनुमान आकारिक दृष्टिकोण से सही है, क्योंकि एक निषेधात्मक वाक्य (वृहत् आधारवाक्य—ई) होने से निष्कर्ष भी निषेधात्मक तर्कवाक्य (ई) है और लघु आधारवाक्य भावात्मक तर्कवाक्य (ए) है। परन्तु नियमानुसार तीन पद की अपेक्षा चार पद वर्तमान हैं— यह स्थान, वह स्थान (दोनों वृहत् आधारवाक्य में है), बाघ की निरन्तरता और तुम्हारे जैसा डरपोक। अतएव यह अनुमान असंगत और दोषपूर्ण है। वस्तुतः इस दोष को चतुष्पदी दोष भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमान में जब एक ही पद के दो अर्थ होते हैं, तभी यह दोष पाया जाता है। परन्तु यहाँ चारो पद अलग-अलग हैं। अतएव इसे अनुमान कहना भी व्यर्थ है। दूसरी बात, वृहत् आधारवाक्य को स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि बाघ की निरन्तरता जंगलों में हो सकती है, किसी स्थान पर नहीं। अतएव लघु आधारवाक्य सत्य नहीं हो सकता। फलतः निष्कर्ष अवैध हो जाता है। साथ ही, तुम्हारे जैसा डरपोक और यह स्थान में किसी प्रकार की व्याप्ति असंभव है। व्याप्ति के बिना अनुमान असंभव है। अतएव महिमा भट्ट की मान्यता कि व्यंजना अनुमान है, असिद्ध हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मीमांसकों ने भी व्यंजना को अनुपयोगी माना है। प्रभाकर और उनके अनुयायियों के अनुसार अभिधा शक्ति द्वारा ही अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। कुमारिल और उनके अनुयायियों ने भी माना है कि आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता और तात्पर्य द्वारा ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए व्यंजना निरर्थक है। मीमांसकों के अनुसार शब्द कारण और अर्थ कार्य है। अतएव शब्द और अर्थ में वही सम्बन्ध है जो कारण और कार्य में होता है। व्यंजना भी अर्थ है। अतएव वह भी कार्य मात्र है। ऐसी स्थिति में अभिधा और व्यंजना अभिन्न हैं। फलतः अभिधा के अतिरिक्त अन्य अर्थ-शक्ति को मानना अनुचित है।

परन्तु अभिधा और व्यंजना में अभिन्नता नहीं हो सकती। शब्द और उसकी अभिधा शक्ति में जिस प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध शब्द और उसकी व्यंजना शक्ति में नहीं हो सकती है। शब्द और अभिधा का सम्बन्ध नियत है, शब्द और व्यंजना का सम्बन्ध अनियत है। एक शब्द के अनेक व्यंजना अर्थ अभिहित होते हैं, जबकि अभिधा एक होता है। "सूर्य डूब चुका है" उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जिसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया गया है। अतः व्यंजना अनुपयोगी और निरर्थक नहीं है।

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

षष्ठ अध्याय

शक्तिग्रहोपाय

गत अध्याय में शब्द की तीन वृत्तियों का उल्लेख किया गया है, जिसमें मुख्य वृत्ति अभिधा को माना जाता है। शक्तिग्रहोपाय को शक्तिग्रह या शब्द ग्रह भी कहा जाता है। अतएव शक्तिग्रहोपाय का तात्पर्य उस उपाय या साधन से है जिससे शब्दग्रह अर्थात् शक्ति (अभिधा) को ग्रहण या जाना जाय। दूसरे शब्दों में, शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति के माध्यम या साधन को शब्दग्रह या शक्तिग्रह कहा जाता है। इसे संकेतग्रह भी कहा जाता है। अभिधा का पर्याय संकेत भी है। न्यायवार्त्तिक में संकेत की परिभाषा दी गयी है— ''अभिधानाभिधेय नियमनियोगः।[67] अर्थात् वाच्यवाचक भाव का नियामक संकेत या शक्ति कहलाता है। ''गौ'' शब्द वाचक है, और 'गौ' का अर्थ वाच्य है। गौ और गौ-अर्थ में नियमित रूप से वाचकवाच्य भाव पाया जाता है। इस भाव द्वारा संकेत मिलता है कि 'गौ' शब्द का अर्थ एक विशेष पशु है जो चौपाया, द्विसिंगी, एक पूंछवाला आदि है। सिद्धान्त मुक्तावली में संकेतग्रह या शक्तिग्रह के आठ उपाय बतलाये गये हैं[68] — व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति और सिद्धपद सान्निध्य।

व्याकरण शक्तिग्रह का प्रथम उपाय या सोपान है। धातु और प्रत्यय (प्रकृति और विभक्ति) का ज्ञान व्याकरण द्वारा ही होता है। जैसे— मित्रः भति। मित्रम् भति। यहाँ 'मित्र' का प्रयोग पुल्लिंग और उभयलिंग दोनों में हुआ है। पहला वाक्य में प्रयुक्त मित्र का अर्थ सूर्य है और सूर्य पुल्लिंग है। दूसरा वाक्य में प्रयुक्त मित्र का अर्थ 'दोस्त' है। दोस्त पुरुष और स्त्री दोनों हो सकते हैं। इसलिए दूसरा वाक्य में मित्र का प्रयोग उभयलिंग में हुआ है। लिंग, कारक (विभक्ति), धातु (क्रिया), प्रत्यय, उपसर्ग आदि का ज्ञान व्याकरण द्वारा ही मिलता है। पाणिनी ने 'पाचक' शब्द के अर्थ को बतलाते हुए कहा है कि 'पच्' धातु में ''तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्''[69] सूत्र से ''कर्तरि कृत''[70] नियम के अनुसार 'ण्वुल्' प्रत्यय लगाकर पाचक शब्द बनता है जिसका अर्थ पकानेवाला होता है। वस्तुतः व्याकरण द्वारा शब्द की व्युत्पत्ति के माध्यम से उस (शब्द) के अर्थ को जाना जाता है।

उपमान द्वारा भी शब्द के अर्थ को जाना जाता है। उपमान ज्ञान का वह साधन है जिसमें दो वस्तुओं या पदों की समानता के आधार पर किसी वस्तु या पद का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उदाहरण के लिए, गाय और गवय (नील गाय), गधा और जेबरा आदि। जब व्यक्ति गाय

---

67. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, 2.1.56

68. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यादं व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥
—पादटिप्पणी, प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 61

69. पाणिनी, अष्टाध्यायी, 3.3.10

70. वही, 3.4.67

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और गधा के ज्ञान के आधार कोई ऐसा पशु देखता है जिसे उसने पहले कभी नहीं देखा, तो वह समझ जाता है कि यह पशु नीलगाय या जेबरा है। वह इस अज्ञात पशु की विशेषता गाय या जेबरा के समान पाता है। इसी समानता के आधार पर वह नीलगाय और जेबरा शब्दों के अर्थ को समझकर कहता है कि गाय के समान गवय (नील गाय) होता है और गधा के समान जेबरा होता है।

कोश द्वारा भी शब्द के अर्थ को जाना जाता है। कोश शब्दों का भंडार होता है, जिसमें शब्दों के वाच्यार्थ एवं उसके पर्यायवाची शब्द बतलाये जाते हैं। वाच्यार्थ ही किसी शब्द का अभिधा अर्थ या शक्ति है। क्रमेलक और शुक्ल संस्कृत भाषा के शब्द हैं। इन शब्दों के अर्थ को शब्दकोष द्वारा ही जाना जाता है। क्रमेलक का अर्थ ऊंट है, तो शुक्ल का अर्थ उजला है। शब्दकोश में ही बतलाया गया है कि शुक्ल के दो अर्थ होते हैं। उजला गुण और गुणी दोनों हैं। जैसे—शुक्लरूपवान् घटः और शुक्लो घटः। पहला वाक्य में प्रयुक्त शुक्ल शब्द का अर्थ गुण के रूप में है अर्थात् वह घड़ा जिसका रंग उजला है। दूसरा वाक्य में प्रयुक्त शुक्ल का अर्थ गुणी के रूप में है अर्थात् उजला रंग वाला घड़ा। इसी प्रकार 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ विष्णु, सिंह, वानर, हिरण आदि शब्दकोश से ही जाने जाते हैं। ये सभी 'हरि' शब्द के पर्यायवाची हैं। अतः ये सभी वाच्यार्थ हैं।

आप्तवाक्य का तात्पर्य विश्वसनीय या प्रामाणिक व्यक्ति का कथन है। विश्वसनीय या प्रामाणिक व्यक्ति वहीं होता है जो सदैव सत्य कहता है और जिसे वस्तु का यथार्थ और वैध ज्ञान हो। उसके पास यथार्थ और वैध ज्ञान अभिव्यक्त करने की क्षमता रहती है। वह व्यक्ति राग-द्वेष आदि विकारों से मुक्त निष्पक्ष एवं निर्विकार होता है। ऐसा ही व्यक्ति आप्त पुरुष कहलाता है और उसका कथन आप्तवाक्य। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति बतलाता है कि पटना का प्राचीन नाम पाटलिपुत्र, कुसुमपुर, पाटलिग्राम या अजीमाबाद था, तो वह पूर्ण प्रामाणिकता के साथ कहता है। अतः उसका यह कथन आप्तवाक्य है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति यह नहीं जानता है कि पिक का अर्थ कोयल है, तो वह इस अर्थ को आप्त पुरुष के कथन द्वारा जान लेता है। वह व्यक्ति कोयल के अर्थ को जानता है। जब आप्त पुरुष उसे पिक का अर्थ कोयल बतलाता है, तो वह समझ जाता है कि 'पिक' शब्द में निहित शक्ति 'कोयल' का संकेत है।

व्यवहार भी किसी शब्द की शक्ति का संकेतक होता है। जब कोई बच्चा अपने बड़ों की बात सुनता है और उस बात के अनुकूल बड़े व्यवहार करते हैं, तो वह बच्चा उस बात के अर्थ को समझ लेता है। उदाहरण के लिए अ (बड़ा) ने ब (बड़ा) से कहा कि घड़ा लाओ। उस समय स (बच्चा) अ की बात सुनता है और देखता है कि ब ने घड़ा ला दिया। जब स अ और ब के इस व्यवहार को बार-बार सुनता और देखता है, तो वह समझ जाता है कि घट लाओ का अर्थ एक विशेष वस्तु के लाने से है। वह 'घड़ा' (संज्ञा) और 'लाना' (क्रिया) के सम्बन्ध को भी समझ लेता है। इसी तरह, जब वह सुनता है कि अ ने ब से "वस्त्र लाओ" कहा और देखता है कि ब वस्त्र ले आता है, तो वह 'वस्त्र' और 'लाना' के सम्बन्ध को समझकर वस्त्र और घट के अर्थ की भिन्नता को भी समझ लेता है। भाषाशास्त्रियों ने घट-पट के इस अन्तर के समझने की क्रिया को "आवापोद्वाप" कहा है। आवापोद्वाप में दो शब्द सम्मिलित हैं— आवाप और उद्वाप। आवाप का अर्थ अगृहीत का ग्रहण है और उद्वाप का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ गृहीत का त्याग है। जब अ वस्त्र लाने के लिए कहता है, तो यह अगृहीत (वस्त्र) का ग्रहण है अर्थात् इस वाक्य से वस्त्र का अर्थ अभिव्यक्त होता है। साथ ही, घड़ा (गृहीत) का त्याग होता है। दूसरे शब्दों में, 'वस्त्र' में निहित शक्ति को श्रोता पकड़ पाता है और 'घड़ा' में निहित ज्ञात शक्ति को वह विस्मृत कर देता है। विस्मरण का तात्पर्य भुलाना नहीं है, वरन् स्मरण में एकत्र करना है। कहने का तात्पर्य है कि व्यवहार द्वारा एक शब्द के अर्थ को जानने के पश्चात दूसरे शब्द का अर्थ जाना जाता है। यही आवापोद्वाप है।

वाक्यशेष भी शक्तिग्रह का एक उपाय है। वाक्यशेष, जैसा कि इस पद का नाम है, अवशिष्ट अर्थात् परवर्ती वाक्य कहलाता है। परवर्ती वाक्य का तात्पर्य दूसरा वाक्य है। जब एक वाक्य के अर्थ को समझने के लिए दूसरे वाक्य की सहायता लेनी पड़ती है, तो दूसरा वाक्य 'वाक्यशेष' कहलाता है। जैसे— चरु यवमय होता है। यहाँ यव का अर्थ निश्चित नहीं है। यव का अर्थ जौ और काकुन नामक अन्न भी होता है। ऐसी स्थिति में चरु किसे कहा गया— कहना कठिन है। इस कठिनाई का समाधान वाक्यशेष से होता है। इस वाक्य का अर्थ है कि वसन्त में अन्य औषधियाँ म्लान हो जाती हैं किन्तु यव प्रसन्नतापूर्वक रहता है। तथा, वसन्त में समस्त धानों के पत्ते गिर जाते हैं किन्तु कणों से भरे हुए यव बड़ी प्रसन्न अवस्था में लहराते हैं। दोनों ही वाक्यों से स्पष्ट है कि यहाँ यव का अर्थ ''जौ'' है, न कि 'काकुन'। ये वाक्य वाक्यशेष कहलाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही मूल या प्रथम वाक्य ''चरु यवमय होता है'' का अर्थ स्पष्ट हो पाता है। तात्पर्य यह है कि किसी शब्द की शक्ति जानने का एक साधन वाक्यशेष भी है।

विवृति का अर्थ विवरण या विवेचन है। जब समान अर्थवाले पद द्वारा किसी शब्द (पद) के अर्थ का कथन किया जाता है, तो वह कथन विवरण या विवेचन अर्थात् विवृत्ति कहलाता है। उदाहरण के लिए कलश और घट दोनों का समान अर्थ होता है। यदि किसी व्यक्ति को कलश का अर्थ नहीं मालूम है परन्तु वह घट के अर्थ को जानता है, उसके समक्ष कहा जाता है कि कलश वही है जो घट है, तो वह घट के अर्थ को जान लेता है। इसी तरह 'राम' शब्द कहा जाय, तो स्पष्ट नहीं होता है कि 'राम' शब्द का प्रयोग परशुराम या रामचन्द्र के लिए किया गया है। राम का अर्थ दोनों है। ऐसी स्थिति में यदि बतलाया जाता है कि दशरथपुत्र राम, तो राम का अर्थ स्पष्ट होता है। वह अर्थ रामचन्द्र है, न कि परशुराम। केवल 'राम' शब्द का एक ही या समान अर्थ होता है।

सिद्धपद सान्निध्य भी विवृत्ति की तरह शक्तिग्रह का एक उपाय है। शक्तिग्रह अर्थात् किसी शब्द के अभिधा अर्थ को जानना। इसे जानने के लिए आवश्यक है कि किसी शब्द के प्रचलित अर्थ को जानना। प्रचलित अर्थ के सन्निकट पाया जानेवाला अर्थ ही किसी शब्द का उचित और संगत अर्थ होता है। इसी अर्थ को सिद्धपद सान्निध्य कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'शिलीमुख' शब्द का अर्थ मधुमक्खी और धनुष दोनों है। यदि महाभारत (कुरुक्षेत्र युद्ध) के नायक अर्जुन के लिए 'शिलीमुख' शब्द का प्रयोग किया जाय, तो निश्चित रूप से इस शब्द का अर्थ 'मधुमक्खी' नहीं होगा, क्योंकि इस संदर्भ में प्रसिद्ध अर्थ 'धनुष' ही हो सकता है। इसी तरह ''इस आम के पेड़ पर पिक मधुर आवाज कर रही है'' वाक्य में श्रोता 'इस आम के पेड़' और 'मधुर आवाज कर रही है' के अर्थ को जानता है। इन पदों के सान्निध्य में 'पिक' शब्द है और साधारणतः आम के पेड़ पर कोयल की मधुर आवाज कूहकती है। इसी प्रचलन के आधार पर श्रोता 'पिक' का अर्थ 'कोयल' जान लेता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपाधियाँ

इस प्रकार उपर्युक्त आठ साधनों या उपायों से किसी शब्द की शक्ति अर्थात् अभिधा या मूल अर्थ को जाना जाता है। इसी संदर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि किसी शब्द की शक्ति में उस शब्द की प्रवृत्तियाँ या उपाधियाँ भी निहित रहती हैं। उपाधि या प्रवृत्ति एक शब्द को दूसरे शब्द से पृथ्क करती है। इसलिए इसे शब्द का अवच्छेदक धर्म कहा जाता है। वैयाकरणों ने शब्द की चार प्रवृत्तियों या उपाधियों को स्वीकारा है। पतंजलि के अनुसार वे प्रवृत्तियाँ हैं— जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक तथा यदृच्छावाचक। परन्तु दण्डी ने यदृच्छावाचक के स्थान पर 'द्रव्यवाचक' प्रवृत्ति को स्वीकारा है।[71]

जातिवाचक प्रवृत्ति वह है जिसे 'सामान्य' कहा जाता है, क्योंकि यह अनेक विशेषों में निहित रहता है। इसे प्राणपद और जीवनाध्यक कहा जाता है। वस्तुतः इसी उपाधि के कारण कोई वस्तु 'वह वस्तु' कहलाती है। जैसे— गाय को गाय इसलिए कहा जाता है कि उसमें 'गोत्व' नामक जाति निहित रहती है। गोत्व गाय का सामान्य कहलाता है जो संसार के त्रैकालिक प्रत्येक (विशेष) गाय में निहित है। यदि 'गोत्व' संसार के सभी विशेष गायों में निहित नहीं हो, तो गाय का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इसलिए गोत्व को प्राणपद और जीवनाध्यक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जाति ही विशेष के अस्तित्व को बनाये रखती है।

गुणवाचक प्रवृत्ति किसी वस्तु की दूसरी वस्तु से भिन्नता दिखलाती है। इसे किसी शब्द का व्यावर्त्तक या विभेदक कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'नीला' पद गुणवाचक है, जो 'अ-नीला' से भिन्न है। अतः यह शब्द नीला वस्तु को अनीला वस्तु से अलग करती है। नीला घड़ा अन्य घड़ों से भिन्न है। उजली गाय अन्य गायों से भिन्न है। यद्यपि नीला घड़ा और अन्य घड़ा, उजली गाय और अन्य गाय की जाति क्रमशः एक ही (घड़ा, गाय-घटत्व, गोत्व) है, फिर भी इनके गुण में अन्तर है। इसी अन्तर के कारण एक काली गाय एक उजली गाय से भिन्न होती है। यही कारण है कि शब्द की गुणवाचक प्रवृत्ति को 'विशेषाधान' कहा गया है।

जाति वस्तु में स्वरूप का आधान करती है अर्थात् वह एक जाति के सभी सदस्यों को दूसरी जाति के सभी सदस्यों से अलग करती है। जैसे— गोत्व और अश्वत्व। गोत्व द्वारा उजली, काली, लाल आदि सभी रंगों के गाय का बोध होता है, लेकिन घोड़ा का नहीं। सभी रंग के घोड़ों का बोध अश्वत्व द्वारा होता है। इस प्रकार जाति एक वस्तु को दूसरी वस्तु से अलग करती है। यहाँ विजातीय भेद या असमानता का बोध होता है। परन्तु गुण वस्तु में विशेष का आधान होने से सजातीय भेद या असमानता का बोध कराता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण (नीला-अ-नीला या काली गाय और उजली गाय में अन्तर) से स्पष्ट होता है।

क्रियावाचक प्रवृत्ति किसी शब्द का साध्य धर्म कहलाता है। यह ऐसी प्रवृत्ति है जो निरन्तर गतिशील है। जैसे— चावल पकाने के लिए पहले चूल्हे को जलाया जाता है, फिर उस पर पर्याप्त पानी से भरा बर्तन रखना, चावल को धोकर भिगोना, फिर धोए चावल को खौलते पानी के बर्तन में डालना, चावल सीजा या नहीं— यह देखना, अन्ततः चावल सीज जाने पर बर्तन उतार लेना और चूल्हा बुझा देना। चूल्हा जलाने और बुझाने की क्रिया छोड़ दें, तो अन्य सभी निरन्तर प्रक्रियाओं को चावल पकाना कहते हैं. पकाना, खाना, जाना,

71. प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 52

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नाचना आदि सभी क्रियाएँ हैं। इन सभी क्रियाएँ अपने अवयवों के साथ घटित होती हैं। दूसरे शब्दों में, किसी शब्द की क्रियावाचक प्रवृत्ति या उपाधि चरण या क्रमबद्ध रूप में रहती है। इसलिए जाति और गुण से क्रिया भिन्न है। जाति और गुण नित्य होते हैं, इसलिए वे वस्तु के सिद्ध धर्म कहलाते हैं। क्रिया परिवर्तनशील होने के कारण अनित्य होती है। इसलिए उसे वस्तु का साध्य धर्म कहा जाता है।

यदृच्छावाचक या द्रव्यवाचक प्रवृत्ति किसी शब्द या वस्तु का न तो सिद्ध धर्म है, न ही साध्य धर्म। वस्तुतः यह धर्म नहीं है, बल्कि एक कल्पित संज्ञा है। इसलिए इसे संज्ञावाचक प्रवृत्ति भी कहते हैं। मनुष्य अपनी इच्छा से अपनी संतानों, पालतू पशुओं का नाम रखता है। उपन्यासकार अपनी इच्छा से अपने उपन्यास का नाम रखता है। जैसे— प्रेमचन्द का 'गोदान', टैगोर का 'गोरा' आदि। कुत्ता का नाम टॉमी, शेरू आदि रखा जाता है। बेटा या बेटी का नाम अभिनव या संगीता रखा जाता है, इत्यादि। ये सभी नामवाचक शब्द संज्ञा या द्रव्य कहलाते हैं। चूँकि ये नाम मनुष्य की इच्छा पर आधारित है, इसलिए इसे 'यदृच्छा' भी कहते हैं।

चूँकि यह प्रवृत्ति वस्तु में निहित नहीं रहती वरन् मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करती है, इसलिए मनुष्य इच्छानुसार अपना या अपनी संतान या पालतू पशु का नाम बदल सकता है। तात्पर्य यह कि यदृच्छा भी क्रिया के समान परिवर्तनशील है।

उपर्युक्त उपाधियों या प्रवृत्तियों को मूलतः दो श्रेणियों में रखा जा सकता है— वस्तु धर्म और यदृच्छा। वस्तु धर्म के दो उपभेद किये गये हैं— सिद्धरूप वस्तु धर्म तथा साध्यरूप वस्तु धर्म। सिद्धरूप वस्तु धर्म के अन्तर्गत जाति और गुण आते हैं, जबकि साध्यरूप वस्तु धर्म के रूप में क्रिया को स्वीकारा गया है। यही कारण है कि सिद्धरूप वस्तु धर्म की भी दो उपश्रेणियाँ की गयी हैं— (i) वस्तु की प्राणपद उपाधि (जाति), जिसके बिना वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। (ii) वस्तु की विशेषाधान उपाधि (गुण)। यदृच्छा वस्तु की वह उपाधि है जिसे संज्ञा कहते हैं। इस प्रकार शब्द की चार प्रवृत्तियाँ शब्द की शक्ति या संकेत ग्रहण करन में सहायक है। सम्भवतः यही कारण है कि मम्मट ने इन प्रवृत्तियों (उपाधियों) को संकेतग्रह या शब्दग्रह कहा है। इस विचार को संकेतग्रहवाद या शब्दग्रहवाद भी कहते हैं।

मीमांसकों ने संकेतग्रह या शब्दग्रह के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार शब्द की प्रवृत्ति या उपाधि मात्र जातिवाचक होती है। उपाधि एक ही होती है और वह भी वस्तु धर्म के रूप में। जाति ही एकमात्र वस्तु धर्म उपाधि है, क्योंकि शेष उपाधियाँ जाति में ही निहित हैं। उदाहरण के लिए उजला, काला, लाल आदि गाय, घोड़ा, घड़ा आदि के गुण हो सकते हैं। गाय, घोड़ा, घड़ा आदि जातिवाचक पद हैं। इनमें निहित गुण भी सामान्य है। उजला, काला, लाल आदि की मात्रा में भिन्नता हो सकती है, लेकिन सामान्य रूप में वे जाति (रंग की) के ही बोधक हैं। इसी प्रकार पकाना, चलना आदि क्रियाएँ भी सामान्य या जातिसूचक हैं। जहाँ तक यदृच्छा का प्रश्न है, मीमांसकों ने उसे भी जाति के अन्तर्गत रखा है। उनका कहना है कि एक ही नाम (मोहन) कई लोगों का हो सकता है। साधारणतः 'राम' कहने से दशरथपुत्र राम का बोध होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है क्योंकि आज भी कई व्यक्तियों के नाम 'राम' हैं। जैसे— रामगोपाल वर्मा, रामचन्द्र प्रसाद, रामसरेख सिंह आदि। इन सभी नामों का प्रधान पद 'राम' है। अतः इन्हें संक्षिप्त रूप में 'राम' ही पुकारा जाता है। इस प्रकार राम विशिष्ट नाम होते हुए भी एक सामान्य पद है। अतः मीमांसकों की दृष्टि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में संकेतग्रह मात्र जाति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

शब्दग्रह या संकेतग्रह

परन्तु मीमांसकों के इस विचार से अधिकांश भारतीय दार्शनिक सहमत नहीं है। इस तथ्य को समझने के लिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के विचार की दृष्टि से जानना आवश्यक है। वस्तुतः शब्दग्रहवाद या संकेतग्रहवाद शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को दर्शानेवाला सिद्धान्त है जिसका एक रूप मीमांसा दर्शन का जातिवाद है। इसी प्रकार आकृतिवाद, व्यक्तिवाद, जात्याकृतिव्यक्तिवाद आदि संकेतग्रहवाद के ही रूप हैं। ये सभी सिद्धान्त बतलाते हैं कि शब्द से जाति या आकृति या व्यक्तिविशेष का बोध होता है या जाति, आकृति और व्यक्तिविशेष तीनों का बोध होता है।

जातिवाद

ऊपर की पंक्तियों में मैंने संकेत दिया है कि मीमांसकों ने जाति को ही शब्द की अभिधा शक्ति माना है। कुमारिल के अनुसार किसी शब्द से जाति का बोध होता है। प्रभाकर ने भी माना है कि जाति में ही शब्दशक्ति निहित रहती है। किन्तु जाति का आधार विशेष होता है। गाय में ही गोत्व निहित है। 'गाय' शब्द कहने से उस जाति का बोध होता है जिसके अंतर्गत सभी प्रकार की गायें आती हैं। इस शब्द से पूरी जाति का बोध होता है, न कि व्यक्ति मात्र का। गाय का अर्थ एक विशेष गाय नहीं है, फिर भी, 'गाय' शब्द व्यक्ति का निषेध नहीं कर पाता है। वस्तुतः 'गाय' शब्द से जाति और व्यक्ति दोनों का बोध साथ-साथ होता है। लेकिन व्यक्ति गौण रूप में या जाति के आधार रूप में जाना जाता है। इसलिए कुमारिल ने व्यक्ति को आक्षेपित अर्थ कहा है, मौलिक अर्थ जाति ही है।

जाति अर्थ के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं— (क) यदि किसी शब्द से व्यक्ति शक्ति का बोध होता है, तो व्यक्ति अनन्त हो जायेगा। एक ही गाय को एक व्यक्ति 'अ'; दूसरा 'ब', तीसरा 'स', चौथा 'द', पांचवाँ 'इ' .... इत्यादि से सूचित करेगा। इस तरह एक गाय के अनन्त अर्थ हो जायेंगे। दूसरी बात यह है कि गाय के अर्थ से ही अश्व का अर्थ भी अभिव्यक्त होने लगेगा। ऐसी स्थिति में अनन्तता का दोष तथा व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायेगा। पहली स्थिति में अनन्तता का दोष और दूसरी स्थिति में व्यभिचार दोष होगा।

इन दोषों को दूर करने के लिए किसी शब्द की शक्ति जाति में ही मानना आवश्यक है। मीमांसकों का मानना है कि प्रत्येक 'विशेष' के लिए अलग-अलग नाम पुकारने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि एक सामान्य नाम अर्थात् जाति से ही उन विशेषों का बोध हो जाता है।

(ख) कहा जाता है कि विशेषण के ज्ञान बिना विशेष्य का ज्ञान नहीं होता अर्थात् जाति और व्यक्ति दोनों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए जाति और व्यक्ति दोनों में शब्द की शक्ति स्वीकारना आवश्यक है। जाति अर्थात् विशेषण का ज्ञान होने पर ही व्यक्ति अर्थात् विशेष्य का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि जाति का ज्ञान ही प्रमुख और मौलिक है। विशेष्य का ज्ञान परवर्त्ती और गौण है। अतः शब्द की शक्ति जाति में ही निहित है।

परन्तु कहा जा सकता है कि ''गाय लाओ'' वाक्य में प्रयुक्त गाय का अर्थ व्यक्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेष गाय से है। 'लाना' क्रिया का सम्बन्ध जाति से नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यहाँ 'गाय' का अर्थ 'व्यक्ति' से ही सम्भव है। फिर भी, यह अर्थ जाति-आधारित ही है, क्योंकि जबतक गाय की जाति को नहीं जाना जायेगा, तबतक व्यक्तिविशेष गाय को भी नहीं लाया जा सकता। इसलिए इस वाक्य (गाय लाओ) में प्रयुक्त गाय का व्यक्ति अर्थ लक्षणा रूप में माना जाता है, न कि अभिधा रूप में।

वेदान्त दर्शन भी जातिवाद का समर्थक है। उसके अनुसार शब्द मात्र सामान्य होता है और उसका अर्थ 'सामान्य' या उसकी जाति में निहित है। 'गाय' कहने से गाय की जाति का बोध होता है, न कि विशेष गाय का।

व्यक्तिवाद

नव्य नैयायिकों ने शब्द की शक्ति 'व्यक्ति' में निहित माना है। जगदीश ने अपनी पुस्तक "शब्दशक्ति प्रकाशिका" में कहा है कि शब्द की शक्ति व्यक्ति में निहित है, परन्तु वह जाति से आविष्ट होता है— जाति विशिष्टव्यक्तौशक्तिः। वस्तुतः व्यक्तिवादियों की मान्यता है कि शब्द अनिवार्यतः व्यक्ति का ही बोध कराता है। कुर्सी, मेज, घड़ा, घड़ी, मनुष्य आदि शब्द व्यक्तिविशेष का ही बोधक होता है। दूसरी बात है कि प्रत्यक्ष जाति का नहीं, व्यक्ति का होता है। शब्द जिन वस्तुओं का निर्देश करता है, उनका प्रत्यक्ष होता है। अतएव शब्द व्यक्तिविशेष का अर्थ प्रदान करता है। न्यायमंजरी में कहा गया है कि "शब्द से सामान्य (जाति) का नहीं, वरन् व्यक्ति का ही बोध होता है।"[72] साथ ही, किसी शब्द का अर्थ लिंग, वचन आदि का भी निर्देश करता है। लिंग, वचन आदि का भेद जाति में नहीं होता है, बल्कि व्यक्ति में पाया जाता है। अतः शब्द का अर्थ व्यक्ति है, जाति नहीं।

जातिवादियों का आरोप है कि यदि शब्द का अर्थ व्यक्तिनिर्दिष्ट हो, तो एक शब्द के अनन्त अर्थ की कल्पना करनी होगी, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। घड़ा, घड़ी आदि वस्तुएँ एक नहीं, वरन् इनकी संख्या अनगिनत है। अतएव व्यक्तिवाद में गौरव दोष (अतिव्याप्त दोष) पाया जाता है। लेकिन व्यक्तिवादियों ने इस आरोप का खंडन करते हुए कहा है कि शब्द की शक्ति (अर्थ) व्यक्ति अवश्य है, परन्तु वह व्यक्ति मात्र नहीं है वरन् जाति विशिष्ट व्यक्ति है, जैसा कि जगदीश ने स्वीकारा है। तात्पर्य है कि सभी व्यक्ति (अनन्त व्यक्ति) जातिरूप नामक अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न हैं। इसलिए शब्द का अर्थ व्यक्ति के होने पर भी जाति का बोध हो जाता है। जाति का काम इतमा ही है कि वह अपने आश्रय अर्थात् जिस व्यक्ति में निहित रहता है, उस व्यक्ति को अन्य व्यक्ति से अलग कर अपने आश्रयभूत व्यक्ति का बोध कराता है। स्पष्ट है कि व्यक्तिवाद शब्द की शक्ति द्वारा केवल व्यक्ति की ही पहचान नहीं करता है, बल्कि संसार में पायी जानेवाली विशिष्ट वस्तुओं के भेद को भी उजागर करता है।

लोक व्यवहार की दृष्टि से भी शब्द की शक्ति (अर्थ) व्यक्ति में निहित मानना स्वाभाविक है। गाय, घोड़ा आदि शब्दों का प्रयोग व्यक्तिविशेष गाय, व्यक्तिविशेष घोड़ा आदि के लिए ही किया जाता है। कुमारिल, यद्यपि जातिवाद का समर्थक है, ने भी स्वीकार किया है कि, "जातिवाद के समर्थक जाति से अविनाभाव रूप से सम्पृक्त व्यक्ति को शब्द का अभिधार्थ

72. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी, पृ॰ 292

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

या वाच्यार्थ मानते हैं, तो व्यक्ति को ही शब्द का अर्थ क्यों नहीं माना जाय अर्थात् व्यक्ति ही शब्दार्थ है।''[73]

यद्यपि व्यक्तिवाद शब्दार्थ को व्यक्ति में ही निहित मानता है, तथापि वह जाति का निषेध नहीं कर पाता है। वस्तुतः किसी शब्द का अर्थ व्यक्ति का निर्देश करते हुए भी जाति को अभिव्यंजित करता है। अतएव व्यक्तिवाद शुद्ध रूप में व्यक्ति-अर्थ को नहीं स्वीकार पाता है। इसलिए नव्य नैयायिकों ने व्यक्तिवाद का अर्थ जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद या व्यक्तिविशिष्ट जातिवाद से लिया है।

आकृतिवाद

पतंजलि की मान्यता है कि किसी शब्द से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वह मात्र 'आकार' का बोध कराता है। दूसरे शब्दों में, किसी शब्द का अर्थ आकृति में निहित रहता है। उदाहरण के लिए जब हम 'गाय' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारे मन में एक ऐसे पशु का आकार उभरता है जो चौपाया है, जिसके पास दो सींगें, एक पूंछ, दो कान, दो आंखें आदि हैं, जो दूध देती है, जो जुगाली करती है और जो सीधी होती है। मन में उत्पन्न गाय की यह आकृति ही गाय का अर्थ है। तात्पर्य है कि जब वक्ता किसी शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मन में उस शब्द के अर्थ की एक विशिष्ट आकृति रहती है और श्रोता के मन में भी शब्द सुनकर वैसी ही आकृति का बोध होता है। अतः शब्द के अर्थ का तात्पर्य है—**वक्ता के मन में निहित और शब्द के माध्यम से श्रोता के मन में सम्प्रेषित बोध। यह बोध आकृति रूप में होता है।**

आकृतिवाद की मान्यता है कि आकृति द्वारा ही संसार में पायी जानेवाली वस्तुओं में भिन्नता दिखलायी जा सकती है। गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि सभी पशु हैं। लेकिन ये पशु एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनकी भिन्नता इनके 'आकार' के कारण है। अतएव जिन शब्दों से इन पशुओं को सम्बोधित किया जाता है, उन शब्दों का अर्थ ''आकार'' मात्र है। कुमारिल ने आकृतिवाद का सार बतलाते हुए कहा है कि आकृति ही शब्दविशेष का विशिष्ट अर्थ है।[74] जयन्त भट्ट ने भी स्वीकारा है कि, ''शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त होता है और प्रत्यक्ष ज्ञान आकृति का ही होता है। अतः आकृति ही शब्द का अर्थ है।''[75]

यह सत्य है कि जब तक किसी वस्तु के आकार को नहीं जाना जाय, तब तक वस्तुओं को पहचानना असम्भव है। फिर भी, आकृतिवाद को संगत नहीं माना जा सकता। यदि एक बच्चा मिट्टी से गाय बनाता है या कागज पर गाय का चित्र खींचता है, तो दोनों ही हालतों में गाय की आकृति मौजूद है। अब यदि कोई कहता है कि 'गाय लाओ', तो वह व्यक्ति मिट्टी की गाय या कागज पर बनी गाय लाने के लिए कदापि नहीं कहता है। किसी शब्द का अर्थ आकृति मात्र होने से गाय का अर्थ गाय नहीं रहकर मिट्टी से बनी निर्जीव गाय या चित्रांकित गाय हो जाता है। मिट्टी से बनी गाय या चित्रांकित गाय में गाय की वास्तविक विशेषताएँ, जिनका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में किया गया है, नहीं पायी जाती हैं। अतः किसी शब्द का अर्थ आकृति मात्र मानना असंगत है।

---

73. कुमारिल भट्ट, तंत्रवार्तिक, पृ॰ 138
74. वही, पृ॰ 136-37.
75. जयन्त भट्ट, उपर्युक्त, पृ॰ 291

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरी बात, एक ही जाति की वस्तुओं के आकार अलग-अलग होते हैं। आकृतिवाद इस बात पर ध्यान नहीं देता है। गाय लम्बी और नाटी हो सकती है। एक मनुष्य का आकार दूसरे मनुष्य के आकार से भिन्न होता है। घड़ा का आकार छोटा-बड़ा हो सकता है। इस तरह सभी वस्तुओं के आकार एक समान नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में शब्द का अर्थ आकृति मानने से एक उलझन की स्थिति पैदा होती है, और शब्दार्थ अस्पष्ट रह जाता है। साथ ही, ऐसे भी शब्द होते हैं जिनके अनुकूल संसार में वस्तुएँ नहीं पायी जाती। जैसे— आत्मा, ईश्वर आदि। इन शब्दों के भी अर्थ होते हैं, जिन्हें 'आकृति' द्वारा नहीं जाना जा सकता। इनका कोई आकार नहीं होता। इसी तरह भाव, विचार, संवेग आदि मनोवैज्ञानिक शब्दों का भी कोई आकार नहीं होता। परन्तु इनके भी अर्थ होते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि आकृतिवाद अपेक्षाकृत असंगत सिद्धान्त है।

जात्याकृतिव्यक्तिवाद

जातिवाद, व्यक्तिवाद और आकृतिवाद के दोष को दूर करते हुए प्राचीन नैयायिकों ने किसी शब्द का अर्थ जाति, व्यक्ति और आकृति तीनों में निहित माना है। गदाधर भट्टाचार्य जैसे नव्य नैयायिकों ने भी इस विचार का समर्थन किया है। गदाधर का मानना है कि जब हम किसी शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उससे मुख्य रूप में 'व्यक्ति' का बोध होता है लेकिन ऐसे व्यक्ति का, जिसका आकार होता है और जिसकी जाति होती है। जाति उस व्यक्ति का सामान्य होता है, जिसके बिना वह वह नहीं है। जैसे— 'गाय' शब्द कहने से एक जातिविशिष्ट पशु (व्यक्ति) का बोध होता है जिसका एक आकार होता है। अतः गाय का अर्थ जाति से विशिष्ट व्यक्तिविशेष आकारवान गाय है। इसलिए कहा गया है कि जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिः अर्थात् शब्द का अर्थ जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति है। न्यायसूत्र के प्रवर्त्तक गोतम ने भी कहा है कि ''जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः'' अर्थात् जाति और आकृति दोनों से युक्त व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है। वस्तुतः जातिवाद व्यक्ति का पूर्ण निषेध नहीं कर पाता है, और न ही व्यक्तिवाद जाति का पूर्ण निषेध कर पाता है।दोनों ही सिद्धान्त जाति और व्यक्ति को शब्दार्थ के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। अन्तर इतना है कि जातिवाद जाति को और व्यक्तिवाद व्यक्ति को मुख्य अर्थ के रूप में स्वीकारता है। जातिवाद के लिए व्यक्ति गौण अर्थ है, तो व्यक्तिवाद के लिए जाति गौण अर्थ है। गौण अर्थ ही क्यों न हो, परन्तु बिना जाति और बिना व्यक्ति के कोई अर्थ शब्द प्रदान नहीं कर सकता है। सच पूछिए तो, जाति व्यक्ति में निहित रहती है अर्थात् जाति का आधार व्यक्ति है। व्यक्ति के बिना जाति हो ही नहीं सकती। इसी तरह, व्यक्ति की पहचान जाति से होली है। यदि जाति नहीं हो, तो व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। 'घड़ा' कहने से केवल विशिष्ट घड़ा का बोध नहीं होता, वरन् घटत्व (जाति) का भी बोध होता है। अंतएव किसी शब्द का अर्थ जातिविशिष्ट व्यक्ति है। इस विचार को जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद कहा जाता है। ज़गदीश तर्कालंकार जैसे नव्य नैयायिक इसके समर्थक हैं। किन्तु प्राचीन नैयायिकों की मान्यता है कि किसी शब्द का अर्थ जाति और व्यक्ति के साथ-साथ आकार का भी बोध कराता है। जब हम गाय या घड़ा शब्द का उच्चारण करते हैं, तो सर्वप्रथम हमारे मन में गाय या घड़ा का आकार अंकित है। उस आकार के अनुरूप व्यक्तिविशेष गाय या घड़ा का ज्ञान होता है जिसकी जाति गोत्व या घटत्व होती है। तात्पर्य यह है कि जब वक्ता गाय या घड़ा शब्द का उच्चारण करता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, तो वह उस शब्द के अर्थ को गाय या घड़ा की जाति से आविष्ट व्यक्तिविशेष की आकृति के रूप में स्वीकार करता है और श्रोता भी उसी अनुरूप उस शब्द (गाय या घड़ा) के अर्थ को समझता है। गोतम का यह कहना कि शब्द का अर्थ (पदार्थ) जात्याकृति विशिष्ट व्यक्ति है, तर्कसंगत है।

बौद्ध दर्शन द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्तों की आलोचना

बौद्ध दार्शनिकों ने व्यक्तिवाद और जातिवाद की आलोचना निम्नलिखित शब्दों में की है। उन्होंने व्यक्तिवाद में तीन दोषों का उल्लेख किया है— आनन्त्य दोष, व्यभिचार दोष और विषयविभागाप्राप्ति दोष। यदि शब्द का अर्थ व्यक्ति माना जाय, तो व्यक्ति अनन्त हो जायेगा। गाय या घड़ा कहने से अनन्त गाय या घड़ा का बोध होगा और अनन्त गाय या अनन्त घड़ा को जानना असम्भव है। अतः शब्द का अर्थ व्यक्ति मानने से आनन्त्य दोष होता है। इस दोष से बचने के लिए कहा जाय कि शब्द का अर्थ अनन्त व्यक्तियों में नहीं, बल्कि एक व्यक्ति में है, तो भी संगत नहीं कहा जायेगा। गाय या घड़ा कहने से केवल व्यक्तिविशेष गाय या व्यक्तिविशेष घड़ा का ही बोध होगा, न कि सभी गायों या सभी घड़ों का। यदि 'गाय' कहने से व्यक्तिविशेष का बोध न होकर भिन्न व्यक्ति का भी बोध हो, तो इस शब्द से घोड़ा का भी बोध हो सकता है। इस प्रकार व्यभिचार दोष उत्पन्न होता है। अतः किसी शब्द का अर्थ व्यक्ति नहीं हो सकता। तीसरी बात यह है कि यदि शब्द का अर्थ व्यक्ति मान लिया जाय, तो शब्दों का वर्गीकरण असंभव हो जायेगा। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। डित्थ नाम का सफेद बैल जा रहा है। (गौः शुक्लः चलो डित्थः) इस वाक्य में चार पद हैं— डित्थ, सफेद, बैल और जाना। डित्थ संज्ञावाचक है, सफेद गुणवाचक है, बैल जातिवाचक है और जाना क्रियावाचक है। परन्तु इन सभी पदों का अर्थ एक ही है— गौ (गाय), यदि व्यक्तिवाद को स्वीकारा जाय। बैल गाय जाति का एक व्यक्ति (सदस्य) है। गुण और क्रिया उसमें निहित है, डित्थ उस व्यक्ति विशेष गाय का नाम है। इस प्रकार व्यक्तिवाद संज्ञा, गुण, जाति और क्रिया के भेद को मिटा देता है। शब्द की ये चार अलग-अलग प्रवृत्तियाँ होती हैं जिन्हें व्यक्तिवाद एक ही प्रवृत्ति में समेट लेता है। ऐसा होने पर घट और कलश शब्दों का प्रयोग साथ-साथ नहीं हो पायेगा, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के पर्याय होने से इनका प्रयोग एक साथ नहीं किया जा सकता। इसे ही बौद्धों ने विषयविभागाप्राप्ति दोष कहा है।

बौद्धों ने जातिवाद को भी अस्वीकारा है। उनके अनुसार जाति का अस्तित्व नहीं है। बौद्ध क्षणभंगुरवाद को स्वीकारते हैं, जिसके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व क्षण भर के लिए होता है। क्षणिक वस्तुएँ अनित्य होती हैं। किन्तु जाति को सामान्य माना जाता है, जो नित्य होता है। सामान्य या जाति का लक्षण बतलाते हुए नैयायिकों ने कहा है कि "नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्" अर्थात् सामान्य या जाति समवेत रूप से अनेक पदार्थों में पायी जानेवाली नित्यता है। किन्तु बौद्ध दर्शन नित्यता का ही खंडन करता है। अतः शब्द का अर्थ जाति कदापि नहीं हो सकता। दूसरी बात संसार में केवल व्यक्ति (क्षणभंगुर) दृष्टिगत होता है, जाति या सामान्य नहीं। गाय या घड़ा से भिन्न कोई गोत्व या घटत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः किसी शब्द से जाति का अर्थ कदापि अभिव्यंजित नहीं हो सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार बौद्ध दर्शन व्यक्तिवाद और जातिवाद का खंडन करता है। परिंणामतः वह जातिविशिष्ट या व्यक्तिविशिष्ट जातिवाद को भी अस्वीकार देता है। साथ ही, आकृतिवाद का भी खंडन करता है। वस्तुएँ क्षणमात्र के लिए हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का आकार भी हमारे मन में नहीं आ पाता है। जबतक किसी शब्द के सुनने से मन में आकृति उकेरेगी, तबतक तो वस्तु ही बदल जायेगी। अतः किसी शब्द का अर्थ आकृति द्वारा भी अभिव्यंजित नहीं होता है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों ने आकृतिवाद तथा जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तिवाद का भी खंडन किया है।

शब्द की विशेष भूमिका

शब्दग्रह या संकेतग्रह से सम्बन्धित एक समस्या यह है कि शब्द की चार प्रवृत्तियों या उपाधियों में शब्दार्थ की अभिव्यंजना का प्रमुख दायित्व संज्ञा पर है या क्रिया पर। गुण और जाति संज्ञा में ही अन्तर्भावित हैं। 'गाय' पद एक संज्ञासूचक शब्द है जिसके अनेक गुण (रंग आदि) हैं और जिसकी जाति 'गोत्व' है। परन्तु 'गाय' शब्द के साथ क्रियावाचक शब्द 'चरना', 'दूध देना' आदि के जुड़ने से इस शब्द का अर्थ पूर्ण स्पष्ट होता है। अतएव किसी वाक्य में दो प्रमुख पद अनिवार्यतः रहते हैं। जैसे— गाय चरती है। गाय दूध देती है। गाय लाओ। आदि। अब प्रश्न है कि इस वाक्य का अर्थ 'गाय' शब्द द्वारा अभिव्यंजित होता है या 'चरना', 'दूध देना', 'लाना' शब्द द्वारा अभिव्यक्त होता है। जिस शब्द से वाक्य का अर्थ अभिव्यंजित होता है, उसी की प्रधानता मानी जाती है। शब्दार्थ के लिए उसकी विशेष भूमिका रहती है। इस सम्बन्ध में दो विरोधी विचार प्रमुख हैं— नैयायिकों का संज्ञावाचक पद की प्रधानता तथा मीमांसकों का क्रियावाचक पद की प्रधानता। इन दोनों विरोधी विचार को समझने के पूर्व इनकी दृष्टि में शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है।

नैयायिकों के अनुसार शब्द आप्तपुरुष का वचन (कथन) है। आप्तपुरुष विश्वसनीय और प्रामाणिक व्यक्ति को कहा जाता है। प्रामाणिक व्यक्ति दो तरह के होते हैं— ऋषि-मुनि तथा महापुरुष। महापुरुष लौकिक व्यक्ति है। जैसे— गाँधी, नेहरू, सुकरात, अरस्तू आदि। इनके वचन प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋषि-मुनि भी लौकिक व्यक्ति हैं। किन्तु ये ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें ईश्वर ने अपनी वाणी देने के लिए चुना है। ऋषि-मुनि तपस्या और साधना में लीन होकर ईश्वरीय वचन को प्राप्त करता है। इसलिए ये महापुरुष से श्रेष्ठ हैं। ये ईश्वरीय वचन को वेदों में संकलित करते हैं। वेद ईश्वर की ही रचना है। वेदवचन ही ईश्वरीय वचन या कथन है। अतः वेद पौरुषेय है, क्योंकि ईश्वर नामक सर्वोच्च पुरुष ने इसकी रचना की है। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार शब्द दो प्रकार के हैं— लौकिक और वैदिक।

मीमांसकों का मानना है कि वेद की रचना किसी सर्वोत्तम पुरुष ईश्वर ने नहीं की है, क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। वेद स्वतः रचित है। इसलिए वेद अपौरुषेय है। वेदकथन क्रियात्मक हैं, क्योंकि वेदों में विधि, निषेध की बात की गयी है। विधि कथन या वाक्य वह है जो उचित कार्य करने का आदेश देता है। निषेध कथन या वाक्य अनुचित कार्य करने की मनाही करता है। वैदिक कथन दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ दो प्रकार के होते हैं। दृष्टार्थ कथन वह है जिसका विषय प्रत्यक्ष वस्तुएँ हैं। अदृष्टार्थ कथन वह है जिसका विषय अप्रत्यक्ष वस्तुएँ (देवता आदि) हैं। वेदों में दोनों प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में चर्चा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्याय दर्शन भी वैदिक कथन को श्रेष्ठ मानता है। कथन चांहे वैदिक हो या लौकिक, दृष्टार्थ हो या अदृष्टार्थ, विधि वाक्य हो या निषेध वाक्य, संज्ञा और क्रिया शब्दों का प्रयोग अवश्य होता है। अतएव यह प्रश्न बना रहता है कि संज्ञा की भूमिका अर्थाभिव्यक्ति के लिए प्रमुख है या क्रिया की भूमिका। नैयायिकों की मान्यता के अनुसार क्रिया संज्ञा की सहायक होती है। इसलिए संज्ञा की भूमिका ही महत्वपूर्ण है। ''गाय चरती है'' में गाय द्वारा सम्पादित क्रिया 'चरना' का बोध होता है। 'चरना' शब्द का अर्थ तब तक अभिव्यंजित नहीं हो सकता, जबतक 'गाय' शब्द उससे नहीं जुड़ता है। अतः गाय प्रमुख पद है। अर्थ की अभिव्यक्ति इसी पद से होती है। गाय विशेष्य है और चरना विशेषण। विशेषण अपने विशेष्य में सदैव निहित रहता है। अतएव क्रिया पद स्वतंत्र नहीं है, वह संज्ञा में ही संयुक्त है। इसी दृष्टिकोण से नैयायिकों ने 'संज्ञा' पद को शब्दार्थ की भूमिका में महत्त्वपूर्ण माना है।

लेकिन मीमांसकों और वैयाकरणों का मानना है कि संज्ञा पद विशेषण है जो क्रिया पद में निहित रहता है। क्रिया पद विशेष्य है। 'गाय' शब्द कहने से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह आवश्यक नहीं है कि गाय किसी जानवर के लिए ही प्रयुक्त हुआ हो। इसका प्रयोग किसी सीधे-सादे मनुष्य के लिए भी हो सकता है, किसी उपन्यास या कविता का शीर्षक भी हो सकता है, किसी मकान का नाम भी हो सकता है। अतएव संज्ञावाचक पद 'गाय' की भूमिका अर्थ की अभिव्यक्ति में गौण है। जब 'गाय' के साथ 'चरना' क्रिया जोड़ी जाती है, तब गाय का अर्थ अभिव्यक्त होता है कि गाय एक जानवर है, जो चर रही है। यहीं कारण है कि वैयाकरणों और मीमांसकों ने अर्थाभिव्यक्ति के लिए क्रिया पद की विशेष भूमिका को स्वीकारा है।

मीमांसक क्रियावादी हैं। इसलिए वे किसी शब्द की अर्थाभिव्यक्ति के लिए सकाम कर्म पर बल देते हैं। सकाम कर्म अर्थात् ऐसा कर्म जिसका कोई-न-कोई फल अवश्य हो। अतः क्रियावाचक शब्द परिणाम देनेवाला है। परिणाम ही अर्थ की अभिव्यंजना है। वैयाकरणों ने एक कदम आगे आकर कहा कि किसी शब्द का अर्थ उसकी प्रकृति और विभक्ति में निहित है। शब्द की प्रकृति उस धातु या क्रिया के अनुकूल होती है, जिससे उस शब्द की रचना होती है। अतः किसी शब्द का अर्थ उसकी क्रिया या व्यापार पर निर्भर करता है। जहाँ क्रिया या व्यापार है, वहाँ उसका परिणाम भी होता है। मीमांसकों ने 'परिणाम' पर बल दिया है, तो वैयाकरणों ने 'व्यापार' पर। उदाहरण के लिए 'पकाना' क्रिया को लिया जा सकता है। 'पकाना' क्रिया 'पच्' धातु से बना है। पच् का अर्थ ही पकाना है। पकाने की प्रक्रिया होती है जिसमें ईंधन (गैस-चूल्हा) जलाया जाता है, फिर चूल्हे पर पानी भरा बर्तन रखा जाता है, चावल डाला जाता है इत्यादि। ये सभी पकाने की प्रक्रिया या व्यापार हैं। इन्हें 'व्यापार समूह' कहा गया है। चावल के पकने की पूर्ण प्रक्रिया 'साध्यावस्था' कहलाती है। चावल का पककर भात बन जाना परिणाम है जिसे 'सिद्धावस्था' कहते हैं। यह चावल के पकने की प्रक्रिया या व्यापार का परिणाम या फल है। इस प्रकार क्रिया पद व्यापार और फल का सम्मिलित रूप है।

प्राचीन नैयायिकों की मान्यता है कि क्रिया परिणाम का सूचक नहीं, वरन् केवल व्यापार का द्योतक है। दूसरे शब्दों में क्रियासूचक शब्द का अर्थ मात्र व्यापार (प्रक्रिया) है, फल (परिणाम) नहीं। मीमांसकों ने भी क्रियासूचक शब्द का अर्थ केवल व्यापार लिया है। लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह ऐसा व्यापार है जो निरन्तर कोई-न-कोई क्रिया उत्पन्न करता है। यज्ञ में हवि देने से स्वर्ग-प्राप्ति की क्रिया सम्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में मीमांसक व्यापार को स्वीकार करते हुए उसमें निहित फल का भी संकेत देता है। मंडन मिश्र ने मात्र फल पर बल दिया है। उसके अनुसार क्रिया का अर्थ फल देनेवाला है। नव्य नैयायिकों और वैयाकरणों ने स्पष्टतः कहा है कि क्रिया का अर्थ व्यापार और फल दोनों है। नव्य नैयायिकों की मान्यता है कि व्यापार और फल संयुक्तरूप में क्रिया के अर्थ में निहित हैं। किन्तु वैयाकरणों का मानना है कि क्रिया के अर्थ की अभिव्यक्ति व्यापार और फल के रूप में अलग-अलग होती है। भाट्ट मीमांसक का कहना है कि क्रिया का अर्थ 'भावना' में निहित है। कुमारिल के अनुसार प्रकृति (धातु) फल देता है और विभक्ति (प्रत्यय, कारक आदि) व्यापार करती है। भावना का अर्थ फल प्रदान करनेवाला व्यापार है।

स्पष्ट है कि क्रिया ही वह महत्वपूर्ण पद है जो संज्ञावाचक शब्द के अर्थ को भी अभिव्यक्त करता है। अतएव 'चरना', 'करना', 'पकाना' आदि क्रिया से ही शब्द या वाक्य के अर्थ को जाना जा सकता है। परन्तु केवल क्रिया पद का प्रयोग भी अर्थ देने में समर्थ नहीं है। 'चरना' शब्द के कहने से प्रश्न उठता है कि चरनेवाला कौन है, 'करना' से कौन करता है और क्या करता है, 'पकाना' से पकाने की वस्तु क्या है और पकानेवाला कौन है। जबतक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता, तबतक इनका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता। अतएव किसी शब्द या वाक्य के अर्थ की भूमिका में संज्ञा और क्रिया दोनों पदों का समान महत्व है। कोई किसी का सहायक या विशेषण नहीं है, बल्कि समान रूप से दोनों अर्थ की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण योगदान देता हैं।

वस्तुतः नैयायिक, मीमांसक और व्याकरण सभी एकांगी विचार के वाहक हैं। नव्य नैयायिकों का विचार ही सर्वाधिक संगत लगता है कि क्रिया व्यापार और फल का संयुक्त रूप है। यद्यपि वैयाकरणों ने अर्थ की अभिव्यक्ति में क्रिया को प्रधान माना है, परन्तु भर्तृहरि, नागेश आदि वैयाकरणों की मान्यता है कि वाक्य का अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब क्रिया के साथ संज्ञा पद का प्रयोग होता है। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि शब्द की विशेष भूमिका के रूप में संज्ञा और क्रिया दोनों पदों को महत्वपूर्ण और उत्तरदायी मानना आवश्यक है।

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सप्तम अध्याय

वाक्यार्थ की शर्त्तें

वाक्य के स्वरूप

गत अध्याय में बतलाया गया है कि किसी वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए संज्ञा पद तथा क्रिया पद दोनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। संज्ञा पद तथा क्रिया पद के साथ-साथ गुणवाचक तथा जातिवाचक पद का भी प्रयोग वाक्य में होता है। उदाहरण के लिए **गाय चरती है।** इस वाक्य में केवल दो पदों का प्रयोग हुआ है— संज्ञा तथा क्रिया। **गाय काली है।** इस वाक्य में तीन पद हैं— गाय, काली और है। गाय संज्ञा पद है। काली गुणवाचकपद है। 'है' क्रिया है। **सभी गाय चौपाया होती हैं।** इस वाक्य में चार पद हैं— सभी, गाय, चौपाया और होती है। सभी गाय जातिसूचक तथा संज्ञावाचक पद है, चौपाया गुणवाचक पद है और 'होती है' क्रिया है। 'है' और 'होती है' सहायक क्रिया कहलाती है। 'चरना' मुख्य क्रिया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वाक्य अपने-आप में कुछ भी नहीं है, वरन् वह पदों या शब्दों का समूह है जिसके द्वारा अर्थ की अभिव्यंजना होती है। दूसरे शब्दों में, सार्थक पदों या शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं। भर्तृहरि ने वाक्य से संबंधित आठ प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, जिनमें तीन सिद्धान्त वैयाकरणों के हैं और पांच सिद्धान्त नैयायिकों के हैं। वे आठ सिद्धान्त हैं— संघात वर्त्तनीजाति, एकोऽनवयव शब्द, बुद्धयनुसंहृति, आख्यात शब्द, पदसंघात, क्रम, अद्य पद तथा पृथ्कसर्वपद साकांक्षा।[76] आरम्भ के तीन वैयाकरणों के विचार हैं तथा शेष पाँच नैयायिकों के विचार हैं। ये सिद्धान्त वाक्य के स्वरूप को निर्धारित करते हैं।

वैयाकरणों के सिद्धान्त

वैयाकरणों के अनुसार एक ही वाक्य का प्रयोग विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। किन्तु उस वाक्य में निहित जाति या सामान्य द्वारा ही उस वाक्य का अर्थ अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में, वाक्य में निहित शब्दों का संघात या समूह वैयक्तिक नहीं, वरन् जातिगत स्वरूप का होता है, क्योंकि उस संघात या समूह में निहित जाति (सामान्य) वाक्य का सार होता है। उदाहरण के लिए, "यहाँ देखो"— इस वाक्य का प्रयोग एक व्यक्ति नहीं, वरन् प्रायः संसार के सभी व्यक्ति करते हैं। इसलिए यह 'विशेष' वाक्य नहीं, वरन् 'सार्वभौम' वाक्य है। सार्वभौम वाक्य होने से इसमें प्रयुक्त पद परस्पर समन्वित या संघात रूप हैं। प्रयुक्त पद हैं— यहाँ और देखो। ये अलग-अलग पद न होकर पदों का संघात हैं। इसी संघात द्वारा वाक्य का अर्थ अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि वैयाकरणों ने वाक्य का स्वरूप "संघात वर्त्तनीजाति" के रूप में स्वीकार किया है।

---

76. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 2.1.2.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुतः वैयाकरणों की मान्यता है कि वाक्य में प्रयुक्त पद समूह रूप में दीखते हैं,पर वे समूह अविभाज्य हैं अर्थात् वाक्य अविभाज्य और अवयवहीन होता है। साधारणतः हम मानते हैं कि वाक्य शब्दों से बनता है और शब्द अक्षरों से बनते हैं। इसलिए अक्षरों एवं शब्दों को वाक्य का अंश या अवयव माना जाता है। परन्तु वैयाकरणों की मान्यता है कि वाक्य केवल एक और अखंड होता है। अतएव वाक्य का स्वरूप "एकोऽनवयव शब्द" मात्र है। 'गाय चरती है', 'यहाँ देखो' आदि वाक्य अवयवहीन और अखंड वाक्य हैं।

अखंड वाक्य का अर्थ सदैव वाक्य के सारतत्त्व में निहित होता है, जिसका ज्ञान बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। ऐसे वाक्य का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा असम्भव है। इसलिए वैयाकरणों ने वाक्य को "बुद्ध्यानुसंहृति" कहा है, अर्थात् वाक्य का स्वरूप पूर्णतः बुद्धिग्राह्य एवं बौद्धिक होता है।

वस्तुतः वैयाकरणों का दृष्टिकोण अद्वैतवादी है। अद्वैतवाद परमसत्ता को चेतन और बौद्धिक मानता है। उसी बौद्धिक सत्ता की अभिव्यक्ति समस्त संसार है। इसलिए वाक्य भी बौद्धिक और चेतन है। वाक्य ही ब्रह्म है। इसे 'शब्दब्रह्म' कहा गया है।

नैयायिकों के सिद्धान्त

नैयायिकों के अनुसार किसी वाक्य का स्वरूप क्रिया पद द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए वाक्य को **आख्यात पद** कहा जाता है। 'बाइक से घर जाओ।" इस वाक्य में 'जाओ' पद पर बल दिया गया है। 'जाओ' क्रिया पद है, जिसके द्वारा इस वाक्य का अर्थ अभिहित होता है। शेष पद 'बाइक', 'घर' का प्रयोग सहायक रूप में हुआ है। बाइक और घर का प्रयोग क्रमशः करण और कर्म कारक के रूप में हुआ है। कारक विभक्ति है जो किसी शब्द को अर्थ प्रदान करने में सहायक होता है। इस वाक्य में 'जाना' प्रमुख पद है जो सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। 'जाना' क्रिया पद है। अतः नैयायिकों के अनुसार वाक्य मात्र क्रियात्मक या **आख्यात पद** मात्र होते हैं।

वाक्य केवल क्रियापद मात्र ही नहीं, वरन् पदों का संघात भी होता है। एक वाक्य में अनेक पद होते हैं और वे सभी पद मिलकर वाक्य के अर्थ को अभिहित करते हैं। यद्यपि 'जाओ' शब्द कहने से अर्थ का बोध होता है, परन्तु यह अर्थ अन्य पदों की अनिवार्यता अनुभव करता है। 'जाओ' शब्द से इस बात की अभिव्यक्ति होती है कि किसी समय में किसी स्थान को जाना है। वह स्थान और समय की सूचना अन्य पदों या शब्दों से मिलती है। साथ ही, 'जाओ' क्रिया सम्पादित करनेवाला कर्त्ता भी होना चाहिए। अतएव वाक्य पदसमुदाय या पदसंघात होता है। जैसे— **तुम अभी घर जाओ।** इस वाक्य में 'तुम' पद कर्त्ता है, 'अभी' पद समयसूचक है, 'घर' स्थानसूचक है और 'जाओ' क्रिया है। इन सब पदों के अलग-अलग अर्थ होते हैं, पर इस वाक्य का अर्थ इन पदों के समन्वित होने से ही अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि नैयायिकों ने वाक्य को **पदसंघात** या समुदाय रूप माना है।

किसी वाक्य का अर्थ मात्र पदों या शब्दों के समुदाय मात्र होने या संघात होने से ही नहीं निकलता है, बल्कि वाक्य-विन्यास का सही होना भी आवश्यक है। वाक्य-विन्यास का तात्पर्य है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त पदों या शब्दों का क्रम सही-सही होना चाहिए। साधारणतः किसी वाक्य में पहला पद कर्त्ता, दूसरा कर्म, फिर अन्य कारक तथा अन्त में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रिया पद का प्रयोग होता है। जैसे— वह पुस्तक पढ़ता है। तुम सीढ़ी पर चढ़कर पुस्तक निकालो। इत्यादि। इन वाक्यों में कर्त्ता (वह, तुम), कर्म (पुस्तक, सीढ़ी), कारक (को, पर), क्रिया (पढ़ता है, चढ़कर उतारो) क्रमबद्ध रूप में प्रयुक्त हुआ है। यदि इन वाक्यों का प्रयोग अंग्रेजी भाषा में किया जाय, तो कर्त्ता के बाद क्रिया आना चाहिए और क्रिया के पश्चात अन्य पद। जैसे— 'ही रीड्स अ बुक। यू ड्राइव आउट अ बुक ऑन क्लाइविंग अप द स्टेयर्स। यही कारण है कि नैयायिकों ने वाक्य को **क्रमबद्ध** स्वरूप का बतलाया है।

इतना ही नहीं, वरन् वाक्य का अर्थ एक ही पद से अभिव्यक्त होता है और वह वाक्य में प्रयुक्त प्रथम या आरम्भिक पद ही होता है। इसलिए वाक्य को **अद्य पद** भी कहा गया है। उदाहरण के लिए, ''आओ, हे मित्र!'' इस वाक्य में 'आओ' पद प्रमुख है और इसी पद से वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'हे मित्र' सहायक पद मात्र हैं। 'आओ' शब्द का प्रयोग वाक्य के आरम्भ में हुआ है। इसलिए यह आरम्भिक पद होने और सम्पूर्ण वाक्य की अर्थाभिव्यक्ति होने से वाक्य को **अद्य पदात्मक** कहा जाता है।

साथ ही साथ, नैयायिकों की मान्यता है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त सभी पद या शब्द स्वतंत्र और अलग-अलग होते हैं, लेकिन वे एक-दूसरे के साथ जुड़े होते हैं। उनके जुड़ने से ही वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। जैसे— कलम लाल है। मैं दादर एक्प्रेस से भागलपुर जाता हूँ। आदि। इन वाक्यों में कलम, लाल, है, मैं, दादर एक्सप्रेस, से,भागलपुर, जाता हूँ— सभी पदों या शब्दों के स्वतंत्र तथा अलग-अलग अर्थ हैं। लेकिन इन वाक्यों का अर्थ इन अलग-अलग स्वतंत्र अर्थ वाले शब्दों के मिलने या जुड़ने से ही ज्ञात होता है। यही कारण है कि नैयायिकों ने वाक्य को ''पृथ्कसर्वपद साकांक्षा'' की संज्ञा दी है।

वैयाकरणों तथा नैयायिकों के उक्त विचार के आधार पर कहा जा सकता है कि वैयाकरणों ने वाक्य का स्वरूप अखंड बतलाया है, तो नैयायिकों ने सखंड। नैयायिकों के अनुसार वाक्य की संरचना शब्दों और अक्षरों से होती है। इसलिए वाक्य सावयव होते हैं। वस्तुतः नैयायिक वस्तुवादी हैं। इसलिए उन्होंने अक्षरों और शब्दों को वाक्य का अंश माना है। लेकिन अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दों से ही होती है, अक्षरों से नहीं। शब्दों के अर्थ को जानने के पश्चात ही वाक्य का अर्थ जाना जाता है। यही कारण है कि नैयायिकों ने वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पदों या शब्दों के समुदाय या संघात को महत्वपूर्ण माना है अर्थात् वाक्य के अर्थ में पदों की भूमिका महत्वपूर्ण है। परन्तु वैयाकरणों के अनुसार वाक्य मात्र ही सत्य है, वह अवयवहीन होता है। इसलिए वाक्य एक, अमूर्त्त और प्रत्यय (चेतन) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतएव वाक्य के अर्थ को समझने के लिए वक्ता के तात्पर्य को समझना आवश्यक है। किन्तु नैयायिकों की दृष्टि में, पदों की साकांक्षा, उनके क्रमबद्ध उच्चारण तथा पदों की योग्यता को जानकर ही वाक्य का अर्थ समझा जा सकता है।

वाक्यार्थ की शर्त्तें

स्पष्ट है कि किसी वाक्य के अर्थ को समझने के लिए कतिपय शर्त्तों का पालन अनिवार्य है। वाक्य के स्वरूप को निर्धारित करनेवाले उक्त आठ सिद्धान्तों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि वाक्य की शर्त्तों को दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है— वस्तुगत दृष्टि तथा आत्मगत दृष्टि। नैयायिक वस्तुगत दृष्टि को स्वीकारते हैं, जबकि वैयाकरणों ने आत्मगत दृष्टि को स्वीकारा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुगत दृष्टि के अनुसार किसी वाक्य का अर्थ उसके अवयव शब्दों के अर्थ पर निर्भर करता है। साथ ही, शब्दों का प्रयोग होने का समय, स्थान आदि भी वाक्यार्थ के लिए आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से नैयायिकों ने वाक्यार्थ की तीन शर्त्तों को स्वीकारा है— आकांक्षा, संन्निधि या आसत्ति तथा योग्यता। वैयाकरणों ने इन शर्त्तों को आत्मगत दृष्टि से स्वीकारते हुए इनमें एक शर्त्त और जोड़ दिया है। वह शर्त्त है— तात्पर्य। इस प्रकार कुल मिलाकर वाक्यार्थ की चार शर्त्तें हैं।

आकांक्षा—तर्कसंग्रह में कहा गया है कि वाक्य का अर्थ किसी एक शब्द के अर्थ से अभिहित नहीं होता है, वरन् उसके लिए दूसरे शब्द की अपेक्षा होतीं है। वस्तुतः वाक्य में प्रयुक्त शब्द परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इसी अपेक्षा द्वारा वाक्य का अर्थ अभिव्यक्त होता है। इस परस्पर अपेक्षा को आकांक्षा कहते हैं।[77] उदाहरण के लिए ''लाओ''। इस शब्द का अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है, जब इसके साथ 'गाय'; 'पुस्तक' या 'घड़ा' आदि किसी अन्य शब्द को उच्चरित किया जाता है। यह उच्चरित शब्द आकांक्षित या अपेक्षित पद कहलाता है। उदयनाचार्य के अनुसार आकांक्षा एक ऐसा तत्त्व है जो श्रोता के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करता है। श्रोता किसी शब्द से जो अर्थ ग्रहण करता है और उस गृहीत अर्थ से अन्य अर्थ का जो आक्षेप होता है, उन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है। इसी सम्बन्ध के कारण श्रोता के मन में अन्य पद के अर्थ की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, इस अर्थ का पहले से अभाव रहता है। इस प्राग्भाव अर्थ की अपेक्षा ही आकांक्षा है।[78] इस प्रकार आकांक्षा में दो तथ्यों का होना अनिवार्य है— (क) किसी शब्द से बोधगम्य और उसके अपेक्षित अर्थों में अविनाभाव सम्बन्ध तथां (ख) इस सम्बन्ध से श्रोता के मन में उत्पन्न होनेवाली अपेक्षित अर्थ की जिज्ञासा का प्राग्भाव। वर्धमान उपाध्याय का मानना है कि प्रातिपदिक (संज्ञा) में संसर्ग ज्ञान का प्राग्भाव नहीं रहने से उसमें आकांक्षा नहीं पायी जाती है। वक्ता के विवक्षित अर्थ के सम्बन्ध की आपूर्त्ति ही आकांक्षा है। विवक्षित अर्थ का तात्पर्य उस अर्थ से है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, जिस पद के बिना कोई पद अपने अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, उसे ही आकांक्षा की संज्ञा दी जाती है। संज्ञा; विभक्ति, धातु, क्रिया, कारक आदि पद एक-दूसरे के बिना अपने अर्थ को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए इन्हें एक-दूसरे पर आश्रित होना पड़ता है। पदों का परस्पर आश्रित होना ही आकांक्षा है।[79] जगदीश तर्कालंकार की मान्यता है कि धातु, प्रातिपादिक तथा विभक्ति के बीच आनुपूर्वी धर्म आकांक्षा कहलाता है। जिस प्रकार के शब्दों में जैसे अर्थों के अन्वय-बोध के अनुकूल पारस्परिक आकांक्षा रहती है, उस अर्थ में उन्हीं शब्दों का समूह वाक्य के रूप में स्वीकृत होता है।[80] तात्पर्य है कि आकांक्षा पदों के पारस्परिक अर्थों का आपेक्षिक स्वरूप है जो वाक्य के अर्थ को अभिहित करती है।

नागेश भट्ट ने आकांक्षा को श्रोता के मन की जिज्ञासा कहा है। उनके शब्दों में, ''पदसमूह में से एक पद के अर्थ का ज्ञान होने पर उस अर्थ से अन्वित होने योग्य अर्थ

---

77. अन्नमभट्ट, तर्कसंग्रह,
78. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि (बोधिनी टीका), पृ॰ 122
79. वर्धमान उपाध्याय, न्यायकुसुमांजलिप्रकाश, पृ॰ 67.
80. जगदीश तर्कालंकार, शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ॰ 64.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की जिज्ञासा आकांक्षा है जो वस्तुतः ज्ञाता के मन में रहती है। श्रोता के मन की एक स्थिति यह है कि उसमें एक पद के अर्थ के साथ अन्वित होनेवाले अन्य पद के अर्थ की जिज्ञासा रहती है। यह जिज्ञासा आकांक्षा है।''[81] यद्यपि नागेश ने आकांक्षा को ज्ञाता के मन की जिज्ञासा मानकर उसे आत्मगत स्वरूप प्रदान किया है, फिर भी उन्होंने इस जिज्ञासा का आधार एक पद के अर्थ के साथ अन्वित होने लायक अन्य पदार्थ के ज्ञान का विषयभूत अर्थ को स्वीकारा है। तात्पर्य यह है कि नागेश के अनुसार आकांक्षा की वास्तविक सत्ता ज्ञाता के मन में रहती है और वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ में उसकी सत्ता आरोपित होती है।[82] किन्तु नैयायिकों की दृष्टि में यह विचार संगत नहीं है।

उदयनाचार्य का मानना है कि यदि आकांक्षा को श्रोता (ज्ञाता) के मन की उपज मानी जाय, तो श्रोता के मन में शब्दों को सुनकर अनन्त जिज्ञासाएँ उत्पन्न हो जायेंगी। उन सभी जिज्ञासाओं की पूर्त्ति किसी भी वाक्य से सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए ''यह कपड़ा है''— इसे सुनकर कपड़ा के रंग, गुण, द्रव्य आदि के सम्बन्ध में श्रोता के मन में अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु उन सभी जिज्ञासाओं को यह वाक्य शान्त नहीं कर पाता है। यदि नागेश की बात मान ली जाय, तो यह वाक्य वाक्य ही नहीं होगा। परन्तु हम जानते हैं कि यह वाक्य है, और निरर्थक भी नहीं है। अतएव आकांक्षा को आत्मगत नहीं मानकर वस्तुनिष्ठ ही मानना चाहिए। तभी तो, उदयन कहते हैं कि, ''आकांक्षा को श्रोतागत जिज्ञासा मानना उचित नहीं है।''[83]

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए वैयाकरणों ने कहा है कि श्रोता के मन में उत्पन्न सभी जिज्ञासाओं को सामान्य रूप से आकांक्षा नहीं कहा जाता है, वरन् एक विशेष अर्थ में उन जिज्ञासाओं को आकांक्षा कहा गया है। श्रोता के मन में गुण, क्रिया आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। परन्तु इनकी जिज्ञासा आकांक्षा न होकर किसी पद से सृजित विशिष्ट जिज्ञासा को आकांक्षा कहना चाहिए।

उदयन ने इस विचार की भी आलोचना की है। उनके अनुसार सृजित विशिष्ट जिज्ञासा को आकांक्षा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि गुण, क्रिया आदि पद का संसर्ग होता है पर उस संसर्ग के बोध से किसी विशिष्ट जिज्ञासा का बोध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक वाक्यों में पदों से बोधगम्य अर्थों के संसर्ग का ज्ञान पहले से कदापि नहीं रहता है। जैसे— ''प्रधानमंत्री आ रहे हैं, भीड़ हटायें।'' यह संयुक्त वाक्य है, जिसके दो अंश हैं— (i) प्रधानमंत्री आ रहे हैं। (ii) भीड़ हटायें। इन अंशों में यदि एक अंश को सुना जाता है और दूसरा अंश ठीक से नहीं सुनायी पड़ता है, तो इस वाक्य का अर्थ सही-सही नहीं जाना जा सकता है। वस्तुतः इन अंशों के अर्थों का कोई संसर्ग हो ही नहीं सकता। तीसरी बात यह है कि सभी वाक्य के अर्थों के लिए जिज्ञासा का होना आवश्यक नहीं है। अनेक ऐसे वाक्य होते हैं, जिनके अर्थबोध की जिज्ञासा श्रोता के मन में नहीं होती है। ''आजकल रेलगाड़ियाँ देरी से चल रही है''— इस वाक्य के अर्थ में श्रोता की जिज्ञासा नहीं हो सकती, क्योंकि यह प्रतिदिन की घटना है जिससे साधारणतः व्यक्ति उदासीन रहता है यदि

---

81. नागेश भट्ट, वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा, पृ॰ 297
82. वही
83. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि, भाग 3, पृ॰ 454

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसे यात्रा नहीं करनी हो। स्पष्ट है कि आकांक्षा श्रोता के मन की जिज्ञासा मात्र नहीं है, बल्कि वह वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों की अपेक्षा मात्र है।[84]

इस प्रकार वैयाकरणों और नैयायिकों के बीच आकांक्षा के स्वरूप को लेकर मतभेद है। वैयाकरणों ने उसे वैयक्तिक (आत्मनिष्ठ) प्रत्यय मात्र माना है, जबकि नैयायिकों ने उसे वस्तुनिष्ठ सत्ता प्रदान किया है। आकांक्षा कोई अमूर्त्त प्रत्यय नहीं है, बल्कि वास्तविक सत्ता मात्र है। मेरी दृष्टि में, नैयायिकों का विचार अधिक संगत प्रतीत होता है। अर्थ शब्दों का ही होता है, मन में उत्पन्न जिज्ञासा का नहीं। जिज्ञासा सिर्फ अर्थ को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा देती है। यही कारण है कि उदयन ने आकांक्षा को साध्य कहा है, साधन नहीं।[85] वैशेषिक दर्शन में आकांक्षा को विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध कहा गया है, लेकिन उदयन की मान्यता है कि वाक्य में आकांक्षित पद विशेषण और विशेष्य नहीं होते हैं। वे स्वतंत्र रूप में अर्थवान हैं। लेकिन वाक्य के अर्थबोध के लिए वे परस्पर आश्रित है।

सन्निधि या आसत्ति—नैयायिकों के अनुसार केवल आकांक्षा ही वाक्यार्थ के लिए आवश्यक नहीं है। किसी वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति की एक अन्य शर्त्त सन्निधि भी है। सन्निधि का पर्याय आसत्ति है। सन्निधि या आसंत्ति का तात्पर्य है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों या शब्दों का उच्चारण साथ-साथ हो। ऐसा नहीं हो कि ''लाओ'' शब्द का उच्चारण अभी किया और दो घंटे बाद ''गाय'' शब्द का उच्चारण किया गया। इससे वाक्य का निर्माण नहीं होता है, तो उसके अर्थ की बात करना ही व्यर्थ है। इसलिए वाक्य में प्रयुक्त पदों का सहोच्चरित होना आवश्यक है। सहोच्चरित का तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों का उच्चारण बिना किसी व्यवधान (बाधा) के साथ-साथ होना चाहिए। इसलिए नैयायिकों का कहना है कि परस्पर सम्बद्ध पदों का अव्यवहित प्रयोग होने पर ही वे पद वाक्य रूप में घटित होते हैं। जैसे— ''मोहन रोटी खाता है।'' इस वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों का उच्चारण अव्यवहित (अबाधित) रूप में एक साथ होता है, इसलिए इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यदि ''मोहन रोटी'' कहने के बाद हम किसी अन्य व्यक्ति से कुछ और बात करने लगते हैं, तो यहाँ व्यवधान उत्पन्न होता है। बात समाप्त होने पर ''खाता है'' कहा जाता है, तो वाक्य के इस अंश को कहने में देर होती है। अतः दोनों अंशों में परस्पर सम्बन्ध नहीं बन पाता है। इसलिए इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

आसत्ति या सन्निधि का तात्पर्य मात्र सहोच्चरित और अव्यवहित नहीं है, बल्कि किसी शब्द का अर्थ वही होना चाहिए जो अर्थ वह प्रदान करता है। इसे विवक्षित अर्थ कहा गया है। यदि कोई 'घोड़ा' की ओर निर्देश करता है और कहता है कि ''गाय को बांधो'' तो यहाँ घोड़ा का विवक्षित अर्थ या निर्देशित अर्थ के अनुसार कथन नहीं है। अतएव इस वाक्य को अर्थवान नहीं माना जा सकता। इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार सन्निधि या आसत्ति में दो बातें निहित होती हैं— (i) विवक्षित अर्थ का शब्दतः कथन, तथा (ii) कथित शब्द या शब्दार्थों में अव्यवहित सम्बन्ध। अव्यवहित सम्बन्ध ही सहोच्चारण का बोध कराता है।

यद्यपि नैयायिकों ने आसत्ति को वाक्यार्थ की एक शर्त्त माना है, परन्तु कतिपय नैयायिकों ने इसे आवश्यक शर्त्त नहीं माना है। वात्स्यायन ने कहा है कि आसत्ति के अभाव में भी पदों के अर्थ आकांक्षा से परस्पर सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ के रूप में गृहीत होते हैं।[86]

84. वही, पृ॰ 458-61
85. वही, पृ॰ 423
86. वात्स्यायन, न्यायसूत्रभाष्य, 1.2.9

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वात्स्यायन का विचार वैयाकरणों के समान है। नागेश भट्ट ने अपनी पुस्तक "उद्योत टीका" में लिखा है कि आसत्ति के बिना भी आकांक्षा के कारण व्युत्पत्ति के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों में अन्वय अर्थात् सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।कथित वाक्य में पदों के उच्चारण क्रम का अभाव रहने पर भी वे पद वाक्य में क्रमबद्ध होकर बोधगत होते हैं। राजपुरप्रवेश न्याय के अनुसार इसे समझा जा सकता है। राजभवन में प्रवेश करने के समय लोगों की क्रमहीन अव्यवस्थित भीड़ राज-दरवाजे के पास आते ही स्वयं एक कतार में व्यवस्थित होकर राजभवन में प्रवेश करती है, ठीक उसी तरह क्रमहीन पद भी आकांक्षा के अनुसार एक क्रम में घटित होकर ही वाक्य के रूप में बोधगत होते हैं।[87] इसलिए नागेश ने वाक्यार्थ बोध के लिए आसत्ति को आवश्यक शर्त्त नहीं माना है। मंजूषा में कहा गया है कि व्यवहित शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण-अग्रहण श्रोता की बुद्धि की तीक्ष्णता-मन्दता पर निर्भर करता है। तीक्ष्ण बुद्धिवाला शब्दों के अर्थ के अव्यवहित सम्बन्ध को ढूँढ निकालता है, भले ही शब्दों का सहोच्चारण नहीं हुआ हो। परन्तु मंद बुद्धिवाला ऐसी स्थिति में शब्दों के सम्बद्ध अर्थ को नहीं समझ पाते हैं। अब प्रश्न है कि वाक्यार्थ बोध में आसत्ति की भूमिका मंद बुद्धिवाले के अनुसार तय की जाय या तीक्ष्ण बुद्धि वाले के अनुसार। वस्तुतः मंद बुद्धिवाले के अनुसार आसत्ति की भूमिका निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि वे सहोच्चारित पदों के सम्बन्ध को समझने में भी असमर्थ हैं। तीक्ष्ण बुद्धिवालों के लिए आसत्ति की आवश्यकता ही नहीं है। वे तो आकांक्षा द्वारा वाक्यार्थ को जान लेते हैं। अतएव वाक्यार्थ के लिए सन्निधि या आसत्ति की आवश्यकता नहीं है।[88]

पतंजलि का भी मानना है कि वाक्यार्थ बोध में आसत्ति की कोई भूमिका नहीं है। कहा गया है कि यदि पदों में आकांक्षा हो, तो उनके विन्यास में पूर्वापर क्रम नहीं होने पर भी व्यवहित (असहोच्चरित या व्यवधानसहित) पदों का अन्वय आकांक्षा के आधार पर किया जाता है। अतएव आसत्ति को वाक्यार्थ की शर्त्त नहीं मानी जाती है। यह हो सकता है कि सन्निधि या आसत्ति के अभाव में केवल आकांक्षा द्वारा वाक्यार्थ के ग्रहण में देर हो सकती है।[89] देरी का तात्पर्य यह नहीं है कि आसत्ति आवश्यक है। मीमांसकों ने भी पतंजलि का समर्थन किया है। महाभाष्य की प्रदीप टीका में कहा गया है कि आसत्ति को वाक्यार्थ बोध का आवश्यक हेतु नहीं मानना चाहिए।[90] मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ के ग्रहण में परस्पर आकांक्षित पदों के अर्थों का महत्व है, आसत्ति का नहीं। अर्थों का आकांक्षाजन्य क्रम पदों में भी क्रम का निर्धारण कर देता है।

स्पष्ट हैं कि नैयायिकों ने आसत्ति या सन्निधि को वाक्यार्थ के लिए आवश्यक शर्त्त माना है। उन्होंने सहोच्चरित एवं अव्यवहित पदों के अर्थों के सम्बन्ध को आसत्ति कहा है। वैयाकरणों और मीमांसकों ने आसत्ति को वाक्यार्थ के लिए आवश्यक नहीं माना है। वैयाकरणों ने आसत्ति को श्रोता के मन पर ही आश्रित मान लिया है। उनके अनुसार श्रोता की बुद्धि-क्षमता पर आसत्ति निर्भर है। इस प्रकार वैयाकरणों ने सन्निधि या आसत्ति को आत्मगत माना है, तो नैयायिकों ने वस्तुगत; क्योंकि शब्दों के अव्यवहित सहोच्चारण पर ही वाक्यार्थ बोध निर्भर है।

---

87. नागेश भट्ट, उद्योत टीका,
88. वही, वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा, पृ॰ 522
89. पतंजलि, महाभाष्य, 1.1.58
90. कैयट, महाभाष्यप्रदीप टीका, पृ॰ 450

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

योग्यता—आकांक्षा और सन्निधि के रहने पर भी वाक्य का अर्थ नहीं जाना जा सकता है। जैसे— "आग सींचती है।" इस वाक्य में आकांक्षा और सन्निधि दोनों है। परन्तु वाक्य अर्थहीन है। आग में सींचने की क्षमता नहीं होती है, बल्कि जलाने की क्षमता है। जल में सींचने की क्षमता होती है। अतः यदि वाक्य होता— जल सींचता है, तो यह अर्थवान होता। किसी शब्द में अर्थ प्रदान करने की क्षमता होती हैं। जल 'सींचना' अर्थ को प्रदान करता है, तो आग 'जलाना' अर्थ को। इसी क्षमता को 'योग्यता' कहते हैं। नैयायिकों का मानना है कि यदि पदसमूह से विवक्षित अर्थ में कुछ बाधक तत्त्व आ जाय, तो उस पदसमूह में योग्यता का अभाव होता है। अतः उस पदसमूह को वाक्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है। बाधक तत्त्व का निर्धारण दैनिक जीवन के अनुभव के आधार पर किया जाता है। आग का जलाना और जल का सींचना हमारे दैनिक अनुभव पर आधारित है। इसी तरह "आग गर्म होती है" और "आग ठंढी होती है" वाक्यों में पहला वाक्य हमारे अनुभव के अनुकूल है, तो दूसरा वाक्य हमारे अनुभव के प्रतिकूल है। अतः पहला वाक्य अनुभवसिद्ध होने से सार्थक है, तो दूसरा वाक्य अनुभवविरुद्ध होने से निरर्थक (अर्थहीन) है। इसी प्रकार "आग सींचती है" अनुभवविरुद्ध है, पर "जल सींचता है" अनुभवसिद्ध है। स्पष्ट है कि योग्यता का अर्थ अनुभवसिद्ध है, अनुभवविरुद्ध नहीं। वर्धमान उपाध्याय के शब्दों में, "विशेष पदसमूह से विवक्षित अर्थ में सम्बन्ध के किसी बाधक तत्त्व का न होना योग्यता है।"[91] इस परिभाषा में कहा गया है कि पदसमूह से विवक्षित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार का बाधक तत्त्व अर्थात् अक्षम अर्थ का नहीं होना योग्यता है। अक्षम अर्थ को अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। जैसे— आग का सींचना अक्षम अर्थ है। इसे हम अनुभव से ही जानते हैं अर्थात् यह अनुभवविरुद्ध अर्थ है। दूसरे शब्दों में, वर्धमान ने भी स्वीकारा है कि पदसमूह के अर्थ में अनुभवसिद्ध सम्बन्ध का होना योग्यता है।

परन्तु वैयाकरणों ने नैयायिकों के इस विचार का समर्थन नहीं किया है। नागेश भट्ट के अनुसार किसी वाक्य में एक साथ प्रयुक्त होनेवाले पदों के अर्थ में सम्बन्ध की बाधा का ज्ञान होने पर भी अर्थबोध हो सकता है। अतएव उस वाक्य में योग्यता का भाव मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। जैसे— कमलनयन। कमल और नयन में अर्थभेद है। कमल एक फूल का नाम है, तो नयन आंख का पर्यायवाची पद है। फूल और आंख की बनावट और स्वभाव में अन्तर है। दोनों के अर्थसम्बन्ध में बाधा-बोध है। फिर भी 'कमलनयन' का अर्थ-बोध होता है। यह सार्थक पद है। अतः अनुभवविरुद्ध होते हुए भी 'कमलनयन' अर्थहीन नहीं है। इसमें योग्यता उपस्थित है।

वैयाकरणों का मानना है कि अनुभवविरुद्ध होना वाक्यार्थ के ग्रहण में बाधक होना है— यह सर्वव्यापी नियम नहीं है। अनुभव के विरुद्ध होने पर भी हम वाक्य के अर्थ को समझ लेते हैं। अर्थात् योग्यता का आधार अनुभवसिद्ध नहीं, अनुभवविरुद्ध भी हो सकता है। जैसे— चांदी को सीपी समझकर कहा जाता है कि, "यह सीपी है।" चांदी को चांदी समझने वाला व्यक्ति इस कथन को अनुभवविरुद्ध मानता है, परन्तु वह इस वाक्य के अर्थ को समझ लेता है। जो व्यक्ति भ्रम के कारण चांदी को सीपी मानता है, जब उसे अपने इस भ्रम का ज्ञान होता है तो वह चांदी को चांदी समझ लेता है। परन्तु तबतक वह इस अनुभवविरुद्ध वाक्य को सत्य मानकर इसके अर्थ को जान लेता है। इस प्रकार अनुभवविरुद्ध

91. वर्धमान उपाध्याय, न्यायकुसुमांजलिप्रकाश टीका, 3.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होने पर भी वाक्य में योग्यता पायी जाती है। दृष्टिदोष होने पर हम सही रंग की पहचान नहीं कर पाते हैं। पर यदि कोई कहता है कि "यह नीला है", तो वह इस वाक्य के अर्थ को समझ लेता है, जबकि उसे नीला रंग का अनुभव नहीं होता है। हम दैनिक जीवन में ऐसे पदों का प्रयोग करते हैं, जिनका न तो अनुभव होता है और जिन्हें न तो अनुभवसिद्ध या अनुभवविरुद्ध कहा जा सकता है। जैसे— सत्त्व गुण उजला है, रजोगुण लाल है, तमोगुण काला है। इत्यादि। ये वाक्य अनुभवसिद्ध नहीं है। फिर भी अर्थवान हैं। अतएव योग्यता का अर्थ केवल अनुभवसिद्ध होना नहीं है।

वैयाकरणों ने योग्यता को व्यापक अर्थ में लिया है। वस्तुतः योग्यता मनुष्य की बुद्धि का प्रत्यय मात्र है जो प्रचलन में दिखता है। नैयायिकों ने इसे शब्दों में निहित माना है। उनके अनुसार योग्यता शब्दनिष्ठ है। यहाँ भी नैयायिकों का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है, तो वैयाकरणों का आत्मनिष्ठ।

तात्पर्य—आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के होने पर भी वाक्य का अर्थ नहीं जाना जा सकता है, यदि वक्ता के अभिप्राय को न समझा जाय। वक्ता का अभिप्राय ही 'तात्पर्य' कहलाता है। प्राचीन नैयायिकों ने तात्पर्य को वाक्यार्थ की शर्त्त नहीं माना है, परन्तु नव्य नैयायिकों ने तात्पर्य को वाक्यार्थ की एक शर्त्त स्वीकार किया है। नव्य नैयायिकों के अतिरिक्त वैयाकरणों और वेदान्तियों ने भी वाक्यार्थ की शर्त्त के रूप में तात्पर्य को मान्यता दी है। विश्वनाथ पंचानन के अनुसार वाक्य का अर्थ वक्ता के तात्पर्य को समझने के बाद ही जाना जा सकता है। यदि तोता कहता है कि "गाय लाओ", तो इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं है। तोता रटंत वाक्य कहता है। इसलिए उसमें तात्पर्य का अभाव है। अतः यह वाक्य निरर्थक है। परन्तु यदि कोई मनुष्य इस वाक्य का उच्चारण करता है, तो उसके इस कथन में तात्पर्य निहित है। इसलिए कहा गया है कि "वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्" अर्थात् वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है। सिद्धान्त मुक्तावली में कहा गया है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण वक्ता की इच्छानुकूल होना चाहिए, तभी वाक्यार्थ हो पाता है।

परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार मौनी व्यक्ति शब्दोच्चारण नहीं कर पाता है, फिर भी संकेत से वह अपने अभिप्राय को समझा देता है। यदि शब्दोच्चारण द्वारा ही वक्ता की इच्छा मानी जाय, तो संकेतार्थ से वक्ता का तात्पर्य नहीं समझा जा सकता है। इसलिए अद्वैत वेदान्तियों ने न्याय दर्शन के इस विचार में **अव्याप्ति दोष** माना है। जब कोई बालक मंत्रोच्चारण करता है, तो उसमें उस बालक की इच्छा निहित नहीं रहती है। फिर भी शाब्दबोध होता है, अर्थात् वाक्यार्थ जाना जाता है। चूँकि मंत्रोच्चारण बालक की इच्छा से नहीं होता है, इसलिए यहाँ भी **अव्याप्ति दोष** है।

नैयायिकों का उत्तर है कि भले ही बालक मंत्रोच्चारण अपनी इच्छा से नहीं करता हो और वह मंत्र का अर्थ भी नहीं जानता हो, फिर भी श्रोता को ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रोच्चारण करनेवाला बालक मंत्रार्थ को जानता है। इसलिए वह स्वेच्छा से मंत्र का उच्चारण करता है। अतः श्रोता बालक द्वारा उच्चरित मंत्र के तात्पर्य को समझ लेता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त नैयायिकों के इस तर्क में भी दोष निकालता है। जब बालक मंत्रोच्चारण करता है, तो श्रोता भी उस मंत्र के अर्थ को समझता है। उसे यह प्रतीति नहीं होती है कि बालक मंत्र के अर्थ को नहीं जानता है। वस्तुतः श्रोता मान लेता है कि बालक मंत्रार्थ का ज्ञाता है। लेकिन यह मान्यता वाक्य (मंत्र) के अर्थ को अभिहित नहीं कर पाता है, अर्थात्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शाब्दबोध का अभाव पाया जाता है। अतः नैयायिकों के इस विचार में भी **अव्याप्ति-दोष** है।

पुनः नैयायिकों ने उत्तर दिया है कि भले ही वक्ता और श्रोता वाक्य के तात्पर्य को नहीं समझ पाता हो, पर ईश्वर उस तात्पर्य को अवश्य समझता है। अतः वक्ता और श्रोता दोनों ही ईश्वरीय तात्पर्य से वाक्य के अर्थ को जान लेते हैं। किन्तु यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि अनीश्वरवादी विचारकों की दृष्टि में ईश्वरीय तात्पर्य के बिना भी वैदिक और लौकिक वाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्तियों ने नैयायिकों के तात्पर्य विचार को असंगत माना है, और उन्होंने तात्पर्य को "तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्"[92] कहा है। तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् का अर्थ है कि पदार्थों (शब्दों के अर्थों) के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता। इसी योग्यता को तात्पर्य कहा जाता है। जैसे— "घर में घड़ा है।" इस वाक्य में घर आधार है और घड़ा आधेय है। यह वाक्य आधार-आधेय सम्बन्ध को बतलाता है। घर और घड़ा के बीच इस सम्बन्ध की उत्पत्ति होते ही इस वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है, क्योंकि इस सम्बन्ध को बतलाने की योग्यता इस वाक्य में है। अतएव वाक्य के तात्पर्य को श्रोता समझ लेता है।

स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त नैयायिकों की तरह वक्ता की इच्छा को तात्पर्य नहीं कहता है, बल्कि वाक्य में निहित योग्यता को तात्पर्य कहा है। इसका अर्थ है कि अद्वैत वेदान्त योग्यता और तात्पर्य दोनों को अभिन्न मानता है। परन्तु वाक्य की ये दोनों शर्त्तें अलग-अलग हैं। दूसरी बात यह है कि यदि तात्पर्य की अद्वैत परिभाषा को मान ली जाय, तो अतिव्याप्ति का दोष आ जाता है। उदाहरण के लिए "सैंधव लाओ" वाक्य में सैंधव और लाओ दोनों पदों के अर्थ में संगति है। इसलिए इसमें अर्थ देने की योग्यता है। परन्तु 'सैंधव' पद के दो अर्थ हैं— घोड़ा और नमक। ऐसी स्थिति में यह वाक्य श्रोता को घोड़ा या नमक का अर्थ प्रदान करेगा या दोनों— स्पष्ट नहीं है। यदि दोनों अर्थ प्रदान करता है, तो यह अर्थहीन है। अतः अद्वैत वेदान्त जिसे तात्पर्य समझता है, वह अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है। इसी प्रकार "श्वेतो धावति" कहा जाय, तो इसका अर्थ है कि सफेद दौड़ता है। इस वाक्य का तात्पर्य है कि सफेद रंगवाला घोड़ा दौड़ता है। परन्तु यदि 'श्वेतो' पद का विच्छेद किया जाय, तो "श्वा इतः धावति" वाक्य बनेगा, जिसका अर्थ है कि कुत्ता इधर से दौड़ता है। ऐसी स्थिति में 'श्वेतो' पद का तात्पर्य अतिव्याप्त हो जाता है।

अतएव तात्पर्य के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का विचार भी संगत नहीं है। परन्तु अद्वैत वेदान्तियों ने उक्त आरोपों का उत्तर देते हुए कहा है कि "सैंधव लाओ" वाक्य के तात्पर्य में अतिव्याप्ति दोष नहीं है। वस्तुतः तात्पर्य का अर्थ शब्दों के अर्थों के संसर्ग की प्रतीति नहीं है, वरन् इस प्रतीति की योग्यता उत्पन्न करने के साथ-साथ उससे भिन्न अर्थ के बोध की इच्छा से वह उच्चरित न हो। दूसरे शब्दों में वक्ता द्वारा उच्चरित पदों का अर्थ केवल वक्ता की इच्छा और वाक्य की योग्यता पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर करता है। यदि भोजन के समय 'सैंधव' पद का उच्चारण किया जाय, तो उसका अर्थ 'नमक' ही होगा, घोड़ा नहीं। इसी प्रकार 'श्वेतो' पद का अर्थ भी प्रसंगानुसार ही होता है। अतः किसी वाक्य के अर्थ को जानने के लिए वक्ता के तात्पर्य को देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल समझना अनिवार्य है। इसलिए कहा गया है—

92. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, आगम परिच्छेद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यमात्र
प्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्वं तात्पर्यस्य लक्षणम्।[93]

अर्थात् पदों में पदार्थसंसर्गबोध (शब्दों के अर्थों के संसर्ग का ज्ञान) उत्पन्न करने की योग्यता हो और जिस अर्थ का बोधन करना (जानना) अभीष्ट हो, उससे भिन्न अर्थ मात्र की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण नहीं किया गया हो, तो उसे ही ''तात्पर्य'' कहते हैं।

स्पष्ट है कि तात्पर्य के दो लक्षण होते हैं— (क) शब्दों के अर्थों के संसर्ग-ज्ञान की उत्पत्ति तथा (ख) वक्ता की इच्छा उस संसर्ग से उत्पन्न अन्य अर्थ का उच्चारण नहीं करना। यद्यपि यह परिभाषा अद्वैत वेदान्त की है, फिर भी इसमें नैयायिकों का विचार ''वक्ता की इच्छा'' सम्मिलित है। अतएव भारतीय भाषाविश्लेषण के अन्तर्गत तात्पर्य केवल आत्मगत नहीं, वरन् वस्तुगत भी है।

शाब्दबोध

शाब्दबोध का अर्थ है शब्द से उत्पन्न ज्ञान। सिद्धान्त मुक्तावली में विश्वनाथ ने कहा कि जो ज्ञान शब्द द्वारा उत्पन्न होता है, उसे शाब्दबोध कहते हैं। आप्त पुरुष के कथन को शब्द कहा जाता है। कथन वाक्य का पर्याय है। अतः शाब्दबोध का तात्पर्य वाक्यार्थ बोध से है। तर्ककौमुदी में लौगाक्षि भास्कर ने कहा है कि किसी वाक्य के अर्थ का ज्ञान उसमें प्रयुक्त पदों के अर्थों के परस्पर संसर्ग से होता है। स्पष्ट है कि वाक्य का अर्थ स्वतः अभिव्यक्त नहीं होता है, बल्कि वाक्य में प्रयुक्त पदों या शब्दों के अर्थ पर आधारित होता है। पदों या शब्दों के अर्थ परस्पर सम्बन्धित होते हैं। यह सम्बन्ध कई बातों पर निर्भर करता है। विश्वनाथ के अनुसार ''शब्दों का ज्ञान शाब्द बोध का करण (साधन) होता है। शब्दों का अर्थ शाब्दबोध का व्यापार है, शाब्दबोध उस व्यापार का फल है और वाक्यार्थ का ज्ञान आकांक्षा आदि से युक्त होने पर होता है। आकांक्षादि सहकारी या सहायक की भूमिका निभाते हैं।'' विश्वनाथ के इन कथनों में वाक्यार्थ के पूर्व की अवस्था को शाब्दबोध कहा गया है और उसके तत्त्व करण (शब्द), व्यापार (शब्दार्थ), फल (शाब्दबोध) तथा सहकारी (आकांक्षादि) हैं। वैयाकरणों के अनुसार शाब्दबोध का तात्पर्य वाक्य में प्रयुक्त पदों के बीच उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए ''गाय लाओ'' वाक्य में दो पदों का प्रयोग है। 'गाय' उद्देश्य पद है, 'लाओ' विधेय पद है। इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करता है। यही कारण है कि श्रीकंठ दीक्षित ने 'उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध रूप' को वाक्यार्थ की संज्ञा दी है।[94]

वस्तुतः वाक्यार्थ बोध या शाब्दबोध शब्दों के अर्थों द्वारा निर्देशित दो या अधिक वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान है। इस ज्ञान की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप में होती है—

(क) ''गाय लाओ'' वाक्य में पहले 'गाय' शब्द का सम्बन्ध उस वस्तु से होता है, जिसे यह शब्द निर्देशित करता है। अर्थात् 'गाय' शब्द से 'गाय' नामधारी पशु का बोध होता है। यह बोध **करण** है।

(ख) 'गाय लाओ' कहने से 'गाय' नामधारी पशु का स्मरण होता है। यह **व्यापार** है।

93. वही
94. श्रीकंठ दीक्षित, तर्कप्रकाश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ग) 'लाओ' शब्द से उस क्रिया का बोध होता है जिसके द्वारा गाय लायी जाती है। यह भी **व्यापार** है।

(घ) 'गाय' शब्द से उत्पन्न स्मरण गाय का अर्थ बतलाता है, अर्थात् गाय और उसके अर्थ में सम्बन्ध का स्मरण होता है। यह **शाब्दबोध** है।

(ङ) 'लाओ' शब्द से भी 'लाओ' और उसके अर्थ के सम्बन्ध का स्मरण होता है। अतः यह भी **शाब्दबोध** है।

(च) अंब आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता और तात्पर्य द्वारा वाक्य "गाय लाओ" का अर्थ जान लिया जाता है। यह **वाक्यार्थ** है।

इस प्रकार किसी वाक्य के अर्थ को जाना जाता है। वाक्य का अर्थ जानना ही वाक्यार्थ है। नैयायिकों के अनुसार वाक्यार्थ में प्रमुख पद कर्त्ता कारक होता है। उस पर ही सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ निर्भर करता है। "गाय लाओ" में गाय की प्रधानता है, क्योंकि लाने की क्रिया का सम्बन्ध 'गाय' नामक पशु से है। किन्तु मीमांसकों के लिए वाक्यार्थ बोध सकर्मक क्रिया द्वारा होता है, जबकि वैयाकरणों ने क्रिया मात्रा (चाहे सकर्मक हो या अकर्मक) को वाक्यार्थ बोध कां उत्तरदायी माना है। इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। "राम घट लाता है।" इस वाक्य की व्याख्या नैयायिक, मीमांसक और वैयाकरण अपने-अपने ढंग से करते हैं।

नैयायिकों की व्याख्या—राम घट लाता है = राम घट लाने की क्रिया का कर्त्ता है।

यह वाक्य कर्तृवाच्य में है। यहाँ क्रिया (लाना) सकर्मक है। कर्म घट है। उद्देश्य राम है। यह कर्त्ता है। कर्त्ता उसे कहते हैं जो क्रिया करता है। क्रिया के फल को कर्म कहते हैं। चूँकि घट लाना क्रिया का परिणाम या फल है। इसलिए घट कर्म कहलाता है। कर्त्ता, कर्म और क्रिया के बीच जो सम्बन्ध होता है, उसे आनयानानुकूल व्यापार कहते हैं। राम घट लाने का व्यापार करता है। इस व्यापार में कोई दूसरा व्यापार निहित नहीं है, बल्कि मात्र 'घट लाया जा रहा है' का बोध है। इसलिए इसे आनयानानुकूल व्यापार कहा गया है। यह व्यापार केवल एक व्यक्ति (राम) द्वारा सम्पन्न होता है और वह भी वर्तमान काल में। अतएव नैयायिकों की दृष्टि में "राम घट लाता है" का वास्तविक अर्थ है कि "एकत्व विशिष्ट राम कर्मानुकूल घट लाने की वर्त्तमानकालिक क्रिया का कर्त्ता है।"

यदि इस वाक्य का प्रयोग कर्मवाच्य में किया जाय, तो इसका अर्थ होगा— "राम द्वारा घट लाया जा रहा है।"

= "घट कर्त्तारूप राम में निहित क्रिया द्वारा उत्पन्न फल का अधिकारी है।"

मीमांसकों की व्याख्या—"राम घट लाता है।" वाक्य में प्रमुख पद 'लाना' क्रिया है, जो कर्त्ता राम में निहित है। लाना सकर्मक क्रिया है, जिसके साथ अकर्मक क्रिया 'है' सहायक रूप में जुड़ा हुआ है। सकर्मक क्रिया वह होता है जिसके द्वारा किसी कर्म का सम्पादन होता है। 'घट' कर्म कारक है। अतएव उक्त वाक्य का अर्थ है कि "घटरूपी कर्म का सम्पादन राम रूपी कर्त्ता में निहित सकर्मक 'लाना' क्रिया द्वारा होता है।" यह क्रिया राम में निहित रहती है, यदि राम उस क्रिया को करने की इच्छा रखता है। इसलिए उक्त वाक्य का वास्तविक अर्थ निम्नलिखित होगा—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राम घट लाता है। = घट रूपी कर्म का सम्पादन राम रूपी कर्त्ता में निहित इच्छायुक्त सकर्मक क्रिया 'लाना' द्वारा होता है।

वैयाकरणों की व्याख्या—वैयाकरणों का मानना है कि "राम घट लाता है।" वाक्य का तात्पर्य है कि यह एक क्रिया का द्योतक है जिसे कर्त्ता रूपी राम अपनाकर घट लाता है। यहाँ केवल 'लाना' क्रिया पर बल दिया गया है, कर्म 'घट' पर नहीं। कर्म 'घट' तो 'लाना' क्रिया का परिणाम है। यदि क्रिया नहीं हो, तो कर्म का अस्तित्व ही नहीं हो। यही कारण है कि वैयाकरणों ने शाब्दबोध (वाक्यार्थ) के लिए केवल क्रिया को प्रधानता दी है, कर्मयुक्त क्रिया (सकर्मक क्रिया) को नहीं। अतः इस वाक्य का अर्थ होगा—'लाना' क्रिया उस कर्म की ओर प्रवृत्त है जिसके द्वारा कर्त्ता रूपी राम कर्मरूपी घट को लाता है।"

इस प्रकार नैयायिकों, मीमांसकों और वैयाकरणों के अनुसार वाक्यार्थ आकांक्षादि शर्तों के अनुरूप होते हुए भी या तो कर्त्ता अर्थाभिव्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण (नैयायिक) है या क्रिया (मीमांसक-वैयाकरण)। कर्म तो कर्त्ता और क्रिया के बीच सेतु है। क्रिया की अर्थाभिव्यक्ति में कर्म सहायक है। इस प्रकार किसी वाक्य के अर्थ के लिए कर्त्ता, कर्म और क्रिया के अर्थ एवं उनके सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। कर्त्ता उद्देश्य के रूप में तथा कर्म-क्रिया विधेय के रूप में प्रयुक्त होता है। अतएव वाक्यार्थ का तात्पर्य उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध है, जो या भावात्मक होता है या निषेधात्मक। दूसरे शब्दों में किसी वाक्य का अर्थ भावात्मक होगा, तो किसी का निषेधात्मक। यही कारण है कि मीमांसा दर्शन में विधि और निषेध वाक्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ इस विवेचन की अपेक्षा नहीं है। अतः मैंने केवल संकेत मात्र प्रस्तुत किया है।

स्पष्ट है कि वाक्य के अर्थ जानने के लिए कर्त्ता के अर्थ की प्रधानता हो या क्रिया के अर्थ की, किन्तु दोनों के संश्लेषण के बिना सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ नहीं जाना जा सकता है। यह संश्लेषण दो प्रकार का होता है— भेदान्वय और अभेदान्वय। "राम की गाय चर रही है।" वाक्य में 'राम की गाय' उद्देश्य है। यह कर्त्ता है। 'चर रही है' विधेय है। यह क्रिया है। यहाँ 'गाय' प्रथम कारक अर्थात् कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जबकि 'राम' शब्द का प्रयोग षष्ठी विभक्ति अर्थात् सम्बन्ध कारक में हुआ है। प्रथम और षष्ठी विभक्ति (कर्त्ता और सम्बन्ध कारकों) में भेद है। इस भेद के बावजूद इन दोनों को अन्वित किया गया है। इस अन्विति के आधार पर यहाँ उद्देश्य-विधेय (कर्त्ता-क्रिया) सम्बन्ध स्थापित हुआ है। इसलिए इसे भेदान्वय संश्लेषण कहते हैं। परंन्तु "गाय, कामधेनु, चर रही है।" वाक्य में प्रयुक्त 'गाय' शब्द और 'कामधेंनु' शब्द दोनों ही कर्त्ता कारक हैं। गाय और कामधेनु अभिन्न हैं, क्योंकि गाय का ही नाम कामधेनु है। यहाँ गाय और कामधेनु में अभेद के आधार पर अन्वय किया गया है। इस अन्विति के आधार पर उद्देश्य (गाय, कामधेनु) और विधेय (चर रही है) में सम्बन्ध स्थापित होता है और अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थ या शाब्दबोध के लिए आकांक्षादि के साथ-साथ भेदान्वय और अभेदान्वय संश्लेषण की भी अपेक्षा होती है। भेदान्वय को खंड बोध और अभेदान्वय को अखंड बोध कहा जाता है। अखंड बोध की प्रथम सीढ़ी खंड बोध है। सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ अर्थात् अखंड बोध के लिए खंड बोध को जानना आवश्यक है।

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अष्टम अध्याय

अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद

वाक्यार्थ बोध दो तरीकों से होता है, जैसा कि गत अध्याय की अंतिम पंक्ति से स्पष्ट होता है— खंड बोध (भेदान्वय) द्वारा तथा अखंड बोध (अभेदान्वय) द्वारा। प्रथम तरीका अपनानेवालों को अभिहित्तान्वयवादी कहा जाता है, तो दूसरा तरीका अपनानेवाला अन्विताभिधानवादी कहलाता है। वस्तुतः इन दोनों विचारकों में दृष्टिंकोण का भेद है। एक वक्ता की दृष्टि से, तो दूसरा श्रोता की दृष्टि से वाक्यार्थ बोध की विवेचना करता है। इसलिए इनके विचार में पाया जानेवाला भेद ठोस नहीं है। फिर भी, इनके विचार-भेद को जानना आवश्यक है। मीमांसा दर्शन के दो प्रमुख सम्प्रदायों में इस विचार-भेद का विस्तृत विवरण मिलता है। गुरुमीमांसा अन्विताभिधानवादी है, तो भाट्टमीमांसा अभिहितान्वयवादी है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध के संदर्भ में भारतीय भाषाविश्लेषकों ने दो प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। कोंड भट्ट की व्याकरण भूषण सार, मम्मट भट्ट की काव्यप्रकाश तथा विश्वनाथ पंचानन की साहित्य दर्पण नामक पुस्तकों में अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद की विस्तृत विवेचना मिलती है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त जयन्त भट्ट की न्याय मंजरी, वाचस्पति मिश्र की भामती टीका (ब्रह्मसूत्र पर लिखी टीका), चित्सुख की चित्सुखी तथा मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि भी इन दोनों सिद्धान्तों की विवेचना करती हैं। परन्तु प्रभाकर मिश्र (गुरू) की **बृहती टीका** वह प्रथम पुस्तक है जिसमें अन्विताभिधानवाद का प्रवर्त्तन किया गया है। तत्पश्चात् शालिकनाथ मिश्र ने अपनी ''प्रकरणपंचिका'' में इसकी व्याख्या की है। इसी प्रकार कुमारिल भट्ट की पुस्तक **श्लोकवार्त्तिक** में सबसे पहले अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन हुआ है और उसकी व्याख्या पार्थसारथि मिश्र ने अपनी पुस्तक ''न्यायरत्नमाला' में की है। गागा भट्ट ने भी अपनी पुस्तक ''भाट्ट चिन्तामणि'' में इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। यही कारण है कि मूल रूप में इन दोनों सिद्धान्तों (अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद) को मीमांसा दर्शन की देन मानी जाती है।

अन्विताभिधानवाद

प्रभाकर ने 'जैमिनी सूत्र' पर बृहती टीका लिखी। जैमिनी सूत्र अर्थात् मीमांसा सूत्र मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनी ऋषि की रचना है। शेबरस्वामी ने इस रचना पर भाष्य लिखा जिसे शाबरभाष्य या मीमांसासूत्रभाष्य कहा जाता है। इस भाष्य में शबर ने एक स्थल पर लिखा है कि ''सभी पद अपनी शक्ति से अपने-अपने अर्थ का असम्बद्ध रूप में बोध करा देते हैं। जब पद के अर्थ बोधगत हो जाते हैं, तब वे अर्थ ही अपनी शक्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से अपने पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराते हुए एक वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं।''[95] शबर के इस विचार में निम्नलिखित तथ्यों को बतलाया गया है—

(क) किसी वाक्य में प्रयुक्त सभी पद या शब्द अलग-अलग होते हैं।

(ख) उन पदों या शब्दों का अर्थ स्वतंत्र रूप से अलग-अलग होता है। इसलिए वे असम्बद्ध अर्थ कहलाते हैं।

(ग) वे असम्बद्ध अर्थ परस्पर सम्बन्धित होकर सम्पूर्ण वाक्य का एक अर्थ अभिव्यक्त करते हैं।

इस प्रकार शबर की मान्यता है कि किसी वाक्य का अर्थ खंड रूप में जानने के पश्चात ही अखंड अर्थ जाना जा सकता है। प्रभाकर शबर की इस मान्यता को नहीं स्वीकारता है। उनके अनुसार वाक्य का अखंड अर्थ ही अभिहित होता है, वह खंड अर्थ पर आधारित नहीं है। वस्तुतः प्रभाकर एवं उनके अनुयायियों के अनुसार वक्ता किसी विचार को वाक्य के रूप में ही अभिव्यक्त करता है, और यह अभिव्यक्ति पदों के अन्वित होने पर ही होती है। तात्पर्य है कि वक्ता वाक्य में प्रयुक्त पदों की अन्विति द्वारा ही अपने विचार को व्यक्त करता है। श्रोता भी पदों की अन्विति द्वारा ही वाक्य के अर्थ को ग्रहण करता है। इस प्रकार वक्ता और श्रोता दोनों ही वाक्य के अर्थ को वाक्य के पूरा होने पर ही समझते हैं, वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों को अलग-अलग जानकर नहीं। यहाँ पद और पदों के अर्थ की स्वतंत्रता नहीं स्वीकारी गयी है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द या पद स्वतंत्र नहीं होते हैं, उनके अर्थ भी स्वतंत्र नहीं हैं। वाक्य में प्रयुक्त शब्द या पद वाक्य में ही अन्वित होते हैं। इसलिए उनके अर्थ भी वाक्य के अर्थ में ही सन्निहित हैं। इसका तात्पर्य है कि वाक्य के सभी शब्द या पद निरपेक्ष नहीं होते हैं, बल्कि सापेक्ष होते हैं। वाक्य के प्रत्येक शब्द एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। उनके अर्थ भी परस्पर सम्बद्ध होते हैं। शब्दों के सम्बद्ध अर्थों द्वारा ही वाक्य का अर्थ अभिव्यक्त होता है। प्रभाकर के शब्दों में, ''वाक्य में निरपेक्ष एवं स्वतंत्र रूप से पदों का प्रयोग नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्य में स्वतंत्र रूप से किसी एक निरपेक्ष पद का प्रयोग नहीं होता है। यदि वाक्य में कभी एक पद का प्रयोग होता भी है, तो उसका स्वतंत्र एवं निरपेक्ष अर्थ नहीं होता है, वरन् उस पद का अर्थ सत्ता के साथ अन्वित होकर ही बोधगम्य होता है।''[96] इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है।

अचानक हमारे सामने सांप आ जाता है, तो हम डर से चिल्ला उठते हैं— साँप! यद्यपि 'सांप' एक शब्द या पद है, लेकिन यह सम्पूर्ण वाक्य का अर्थबोधक है। सांप केवल शब्दमात्र नहीं है, बल्कि सांप की सत्ता का भी द्योतक है। इस शब्द से ''यहाँ साँप है'' वाक्य की अभिव्यक्ति है। अतएव 'सांप' शब्द स्वतंत्र और निरपेक्ष अर्थ का द्योतक नहीं है। इसी प्रकार, कोई प्यासा व्यक्ति ''पानी'' कहता है, तो इस एक शब्द का भी अन्वित अर्थ होता है— निरपेक्ष और स्वतंत्र अर्थ नहीं। इस शब्द का अन्वित अर्थ है— पानी लाओ। अर्थात् यह एक शब्द सम्पूर्ण वाक्य का द्योतक है। यही कारण है कि अन्विताभिधानवाद

95. शबरस्वामी, मीमांसासूत्रभाष्य, 1.1.25.
96. प्रभाकर मिश्र, बृहती टीका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्य को "सावयव समष्टि" मानता है जिसके अवयव-रूप पद अपने-अपने अर्थ के द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं। सम्बद्ध अर्थ ही वाक्यार्थ है, अर्थात् वाक्य के अर्थ को जानने के लिए वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ को असम्बद्ध रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा मानने पर गौरव (अतिव्याप्त) दोष होता है। पहले वाक्य में प्रयुक्त पदों के निरपेक्ष अर्थ को स्वतंत्र रूप में जाना जाता है। यह असम्बद्ध अर्थ है। फिर इन अर्थों को परस्पर मिलाया जाता है। यह सम्बद्ध अर्थ है। उसके पश्चात सम्बद्ध अर्थ से वाक्य का अर्थ जाना जाता है। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार पहला चरण व्यर्थ है, क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ सदैव अन्वित एवं सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार वाक्यार्थ के लिए तीन नहीं, दो चरणों की ही आवश्यकता होती है। तीन चरणों के कारण ही **गौरव दोष** होता है।

सम्बद्ध अर्थ का तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ एक दूसरे के अर्थ की अपेक्षा रखता है। उसी अपेक्षित अर्थ द्वारा वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता है। परन्तु सम्बद्ध या अपेक्षित अर्थ को अनायास नहीं जाना जा सकता है। उसे जानने की एक विधि है जिसे "आवापोद्वाप" कहते हैं। जैसे— कोई व्यक्ति कहता है कि "गाय लाओ" और कोई बच्चा देखता है कि जिस व्यक्ति से गाय लाने के लिए कहा गया है, वह व्यक्ति एक विशिष्ट पशु को लाता है। फिर उससे कहा जाता है कि, "गाय ले जाओ" और वह उस विशिष्ट पशु को ले जाता है, जिसे वह बच्चा देखता है। गाय लाने और ले जाने की क्रिया को देखकर बच्चा समझ जाता है कि वह विशिष्ट पशु गाय है। अतएव 'गाय' शब्द के अर्थ को जानने के लिए उसे 'लाना' और 'ले जाना' क्रियाओं के अर्थों से सम्बद्ध करना पड़ता है। यह अनुभव (निरीक्षण या प्रत्यक्ष) पर आधारित है। इसे ही आवापोद्वाप कहते हैं। आवाप की विधि से विभिन्न वाक्यों में समान रूप से प्रयुक्त एक पद का एक विशेष अर्थ से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और जातिविशिष्ट व्यक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गाय लाओ, गाय ले जाओ, गाय दूहो, गाय चराओ आदि वाक्यों में 'गाय' पद का प्रयोग समान रूप से हुआ है। इन सभी वाक्यों में 'गाय' का अर्थ विशिष्ट पशु 'गाय' के साथ-साथ उसकी जाति 'गोत्व' का भी बोध होता है। अतः आवाप विधि से गोत्वविशिष्ट गाय के रूप में गाय का अर्थ जाना जाता है। इसी प्रकार एक पद का अलग-अलग क्रियाओं से परस्पर सम्बद्धता को उद्वाप विधि से अलग-अलग क्रियाओं के अर्थों के बोध से जाना जाता है। लाओ, ले जाओ, दूहो, चराओ आदि क्रियाओं का प्रयोग ऊपरलिखित अलग-अलग वाक्यों में हुआ है। इन सभी क्रियाओं का सम्बन्ध एक ही पद 'गाय' से है। इस सम्बन्ध द्वारा ही प्रत्येक वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। यही उद्वाप विधि है। स्पष्ट है कि बच्चा प्रत्येक वाक्य को एक इकाई के रूप में जानता है, न कि अलग-अलग पदों के समूह रूप में। इसी प्रकार वक्ता और श्रोता भी किसी वाक्य के अर्थ को सम्बद्ध रूप में ही जानते हैं, असम्बद्ध रूप में नहीं।

यह स्पष्ट है कि किसी शब्द का ज्ञान आवापोद्वाप से होता है। आवापोद्वाप वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द या पद को परस्पर अन्वित करता है। ऊपर के उदाहरणों में 'गाय' पद की अन्विति 'लाओ', 'ले जाओ', 'दूहो' और 'चराओ' क्रिया पदों से होती है। लेकिन एक वाक्य में 'गाय' और 'लाओ' परस्पर सम्बन्धित हैं, तो दूसरे वाक्य में 'गाय' और 'ले जाओ' परस्पर सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार अन्य दो वाक्यों में 'गाय' का परस्पर सम्बन्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'दूहो' और 'चराओ' से है। इन सभी वाक्यों में संज्ञा पद एक है, पर क्रिया पद अलग-अलग। परन्तु 'घोड़ा लाओ' में 'लाना' क्रिया का सम्बन्ध 'घोड़ा' संज्ञा पद से है। इसका तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों का सम्बद्ध अर्थ बदलता रहता है, वह नित्य नहीं होता है। क्रिया पद का सम्बन्ध जिस तरह के संज्ञा पद से होता है, उसका अर्थ उसी प्रकार का होता है। इसलिए वाक्यार्थ को जानने का आधार सम्बद्ध पदों का अनित्य तथा सापेक्षिक अर्थ है। सम्बद्ध पदों का अनित्य होने का तात्पर्य यह नहीं है कि पदों के अर्थ में परिवर्तन होता है, बल्कि जिस पद के साथ उनका सम्बन्ध होता है उसके अनुकूल ही उनका अर्थ होता है। 'गाय', 'घोड़ा' आदि का अर्थ निश्चित है। लाना, ले जाना, दूहना, चराना आदि क्रियाओं का अर्थ भी निश्चित है। लेकिन 'गाय दूहो', 'बकरी दूहो' वाक्यों से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह भिन्न है। दूहना क्रिया तो समान है, लेकिन गाय और बकरी के समान वाच्यार्थ नहीं हैं। इसलिए दोनों के वाच्यार्थ भिन्न हो जाते हैं। इसी दृष्टिकोण से सम्बद्ध या सापेक्ष अर्थ को अनित्य कहा गया है।

समीक्षा—प्रभाकर एवं उनके अनुयायियों ने अर्थ-सिद्धान्त के रूप में वाक्य को ही प्रधानता दी है, वाक्य के अवयव को नहीं। वाक्य के अवयव वाक्य में प्रयुक्त पद या शब्द हैं। इन पदों या शब्दों के परस्पर अन्वित या सम्बद्ध अर्थ द्वारा ही वाक्यार्थ बोध होता है। दूसरे शब्दों में वाक्य का अर्थ अन्वित होता है। किन्तु यह अन्विति पदों के परस्पर सम्बद्ध अर्थ द्वारा होती है। सम्बद्ध अर्थ को जानने का आधार आवापोद्वाप विधि बतायी गयी है। परन्तु इस विधि में एक कठिनाई है। बच्चा गाय लाने और ले जाने की क्रियाओं को बार-बार देखता है और वह समझ जाता है कि 'गाय लाओ' और 'गाय ले जाओ' का विशिष्ट अर्थ है। वह नहीं जानता है कि 'गाय लाओ' वाक्य के अवयव गाय और लाओ हैं। वह इन अवयवों के अर्थों को जाने बिना वाक्य के अर्थ को समझ लेता है। ऐसी स्थिति में सम्बद्ध अर्थ अनावश्यक हो जाता है। किन्तु शब्दों के अर्थ को जाने बिना वाक्य का अर्थ जानना असम्भव है। शब्दकोश द्वारा शब्दों के अर्थ को जाना जाता है। किन्तु मात्र शब्दार्थ द्वारा वाक्यार्थ नहीं जाना जाता। वाक्यार्थ जानने के लिए शब्दों के सम्बद्ध अर्थ जानना आवश्यक है। परन्तु यहाँ भी एक कठिनाई है।

सम्बद्ध अर्थ द्वारा वाक्यार्थ जानने का तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त एक पद का अर्थ उसी वाक्य में प्रयुक्त दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बद्ध हो। अब समस्या है कि उस सम्बद्ध अर्थ का बोध उसी पद से होता है या उस अर्थ के वाचक अन्य अर्थ से होता है। यदि उसी पद से सम्बद्ध अर्थ का बोध हो, तो अन्य पद की आवश्यकता नहीं रहती है। 'गाय लाओ' वाक्य में 'गाय' शब्द का अर्थ 'लाना' शब्द के अर्थ से सम्बद्ध है। इसका तात्पर्य है कि गाय का अर्थ लाना के अर्थ से जुड़ा है और लाना का अर्थ गाय के अर्थ से जुड़ा है। इस प्रकार गाय और लाना का अर्थ अभिन्न हो जाता है। अतएव सम्बद्ध अर्थ का कोई मायने नहीं रहता है। वस्तुतः यहाँ आत्माश्रय दोष पाया जाता है। यदि दूसरे विकल्प को स्वीकारा जाय, अर्थात् उस अर्थ के वाचक अन्य अर्थ को सम्बद्ध अर्थ का बोध करानेवाला माना जाय, तो भी समस्या का समाधान नहीं होता है। 'गाय' शब्द का अर्थ गोत्व विशिष्ट गाय है। यह गाय का वाचक अर्थ है। यह अर्थ केवल गाय का वाचक अर्थ नहीं है, वरन् 'लाना' क्रिया का भी वाचक अर्थ होता है। इसका कारण है कि 'लाना' क्रिया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का वाच्यार्थ 'गाय' के अभिधार्थ में ही निहित है। अतएव गाय या लाना दोनों पदों के अर्थ एक दूसरे में अन्तर्भूत होने से सम्बद्ध अर्थ देने में असमर्थ है।

अन्विताभिधानवादी इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहते हैं कि परस्पर सम्बद्ध अर्थों का बोध वस्तुतः उनके वाचक शब्द ही अपनी अभिधा शक्ति से कराते हैं। इसलिए वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद की अर्थ-बोध में उपादेयता है। एक पद से जिस अर्थ का बोध होता है, उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध उसी शब्द या पद से नहीं होता है, बल्कि उसके वाचक अन्य पद से ही उसका अर्थ-बोध होता है। इसलिए वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों की सम्बद्धता व्यर्थ नहीं है। दूसरे शब्दों में, एक पद या शब्द की अभिधा शक्ति से असम्बद्ध या स्वतंत्र अर्थ का अभिधान और पुनः उसी अभिधा शक्ति से सम्बद्ध अर्थ का बोध होने से आत्माश्रय दोष का निराकरण होता है। फिर भी, एक कठिनाई रह जाती है। यहाँ पद की अभिधा शक्ति के दो व्यापार (प्रक्रिया) माने गये हैं— (क) पद की अभिधा शक्ति साक्षात् रूप में उस पद के स्वतंत्र संकेतित अर्थ को प्रदान करती है। (ख) वही अभिधा शक्ति अन्य पदों के अर्थों के साथ वाक्यात्मक सम्बन्ध का अर्थ देती है। किन्तु ये व्यापार व्याघात दोष से पीड़ित हैं। पहली बात यह है कि अन्विताभिधानवादी पदों के असम्बद्ध या स्वतंत्र अर्थ को नहीं स्वीकारते हैं, जबकि अभिधा शक्ति के व्यापार रूप में स्वतंत्र अर्थ को माना गया है। दूसरी बात यह है कि एक बार प्रयुक्त शब्द में अर्थबोध की शक्ति (अभिधा शक्ति) अर्थबोध कराने के बाद समाप्त हो जाती है। अतएव अभिधा शक्ति का व्यापार क्रमिक रूप में नहीं हो सकता। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है।[97] परन्तु एक ही अभिधा शक्ति से पद के अर्थ का बोध और अर्थों के परस्पर सम्बद्ध अर्थ का बोध मानने से यह सर्वमान्य सिद्धान्त खंडित हो जाता है। इसलिए अन्विताभिधानवादी अभिधा शक्ति के दोनों व्यापारों को स्वीकारने में अवश्य संकोच करेंगे अर्थात् अभिधा शक्ति शब्दार्थ और परस्पर सम्बद्ध अर्थों का क्रमिक बोध नहीं कराती है वरन् एक ही साथ कराती है।

वस्तुतः अन्विताभिधानवादी प्रभाकर उक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कहता है कि वाक्य के अवयवभूत पदों में अन्तर्निहित शक्ति से जो उनके अर्थों का तथा उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है, उसके लिए न तो अभिधा के दो व्यापारों की आवश्यकता है और न ही क्रमिक व्यापार की। वास्तव में, वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ का बोध स्मृति से होता है। शब्द या पद के संकेतित अर्थ का बोध व्यक्ति के मन में संस्कार रूप में पहले से रहता है। ज्योंहि पद या शब्द को सुना जाता है; त्योंहि उसकी स्मृति हो जाती है और पद का अर्थ ज्ञात हो जाता है। अतएव अभिधा का एक ही व्यापार है और वह है वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना। यह सम्बन्ध स्मृतिजन्य ही होता है। इसके लिए अभिधा के दो व्यापार या क्रमिक व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। नैयायिकों की भी मान्यता है कि शब्द और उसके अर्थ में सहज सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् शब्द के साक्षात संकेतित अर्थ का ज्ञान स्मृति द्वारा ही होता है। परन्तु इस मान्यता पर भी आपत्ति उठायी गयी है।

कहा गया है कि यदि वाक्य का अर्थ सम्बद्ध पदों के अर्थों की अन्विति से ही ज्ञात होता है, तो उन पदों के अनुरूप स्मृति में आनेवाले पद के अर्थों को भी परस्पर सम्बद्ध

---

97. तत्त्वप्रदीपिका टीका (नयनप्रसादिनी), पृ॰ 146.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

या अन्वित होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पद से परस्पर अन्वित अर्थों की ही स्मृति होनी चाहिए। अन्विताभिधानवादी सभी प्रकार के ज्ञान को अन्वितपूर्ण ही मानते हैं। अन्विति के बिना ज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में पद या शब्द से होनेवाली अर्थ की स्मृति को स्वतंत्र अर्थ की स्मृति नहीं मानी जा सकती। स्मृति पूर्व ज्ञान पर आधारित होती है जो अनुभवजन्य होता है। अतः स्मृति का आधार अनुभव है, अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पदों और उनके अर्थों का परस्पर सम्बन्ध स्मृति पूर्व ही जाना जाता है। इसलिए इस सम्बन्ध का आधार स्मृति को मानना आत्माश्रय दोष को स्वीकारना है।

इस दोष से बचने के लिए कहा गया है कि स्मृति का आधार पूर्व अनुभव या ज्ञान है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। पूर्व अनुभव परस्पर सम्बद्ध अर्थों को बतलाता है, जिसके आधार पर स्मृति भी परस्पर सम्बद्ध अर्थ ही बतलाती है। फिर भी, एक पद के अर्थ का सम्बन्ध असंख्य पदों के अर्थों के साथ होता है। ऐसी स्थिति में एक पद का अर्थ उस पद को छोड़कर अन्य पद के अर्थ के साथ सम्बन्धित हो जाता है। आवापोद्वाप की विधि से लाना, दूहना आदि क्रियाबोधक पदों के अर्थ का सम्बन्ध 'गाय' पद के अर्थ के अलावा घोड़ा, बकरी आदि संज्ञावाचक पदों के अर्थ के साथ होता है। फलतः, वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ परोक्षतः स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप में ही ज्ञात होता है। अतएव स्मृति द्वारा भी स्वतंत्र रूप में अर्थबोध हो सकता है। जयन्त भट्ट की मान्यता है कि एक पद का अर्थ अन्य पद के अर्थ के साथ सम्बन्धित हो ही, यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः किसी पद की अभिधा शक्ति किसी पद के अर्थ का अन्य पद के अर्थ से सम्बन्ध नहीं बना सकती। 'गाय' शब्द के अर्थ का सम्बन्ध लाना, दूहना, चराना आदि पदों के अर्थों से सम्बन्धित होने पर भी 'गाय' का अर्थ गाय ही रहता है। लाना, दूहना आदि क्रियाबोधक पदों का अर्थ भी 'गाय' या 'घोड़ा' या 'बकरी' के अर्थ से जुड़कर भी उनका स्वतंत्र अर्थ बना रहता है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद की यह मान्यता कि वाक्य में प्रयुक्त पदों का अन्वित अर्थ होता है, उस समुद्र के समान है जो प्यास नहीं बुझाता है। ऐसे समुद्र से तो मरूभूमि ही अच्छा है।[98] कहने का अर्थ है कि अन्विताभिधानवाद संतोषजनक सिद्धान्त नहीं है।

अभिहितान्वयवाद

शबर की उक्त बातों (जिनका उल्लेख पिछले पृष्ठ में किया गया है) का समर्थन कुमारिल तथा उसके अनुयायियों ने किया है। कुमारिल की मान्यता है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ स्वतंत्र और निरपेक्ष होते हैं। वे असम्बद्ध होते हैं। पदों की अभिधा शक्ति उनसे निर्देशित साक्षात संकेतित अर्थों को बतलाती है। पुनः इन अर्थों में आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता और तात्पर्य द्वारा अन्वय स्थापित किया जाता है। इस अन्वय के पश्चात ही वाक्य का अर्थ अभिहित होता है। इसलिए कुमारिल के इस विचार को अभिहितान्वयवाद कहा जाता है। इस विचार के अनुसार वाक्य का अखंड अर्थ उसके खंड अर्थ पर निर्भर करता है। पहले वाक्य के अवयव— पदों— का अलग-अलग अर्थ जाना जाता है। पुनः उन सभी पद-अर्थों को परस्पर सम्बद्ध या अन्वित किया जाता है। इस अन्विति के पश्चात वाक्य का अर्थ जाना जाता है। स्पष्ट है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्द या पद सापेक्ष नहीं होते हैं, बल्कि निरपेक्ष और स्वतंत्र होते हैं। इसलिए उनके अर्थ भी स्वतंत्र और निरपेक्ष होते हैं।

---

98. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी, पृ॰ 367.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वे सापेक्ष या सम्बद्ध नहीं होते हैं। शब्दकोश शब्दों का वह भंडार है जो शब्दों के अर्थ को बतलाता है। शब्दकोश में जितने भी शब्द हैं, उनका अर्थ स्वतंत्र रूप में ही बतलाया गया है। शब्दकोश के सभी शब्दों का अर्थ निरपेक्ष होता है, सापेक्ष नहीं। अतः वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ भी निरपेक्ष होते हैं। उदाहरण के लिए ''गाय लाओ'' वाक्य में गाय और लाओ दोनों स्वतंत्र अर्थ रखने वाले शब्द हैं। ये एक-दूसरे से पृथ्क हैं। 'गाय' संज्ञासूचक पद है। 'लाना' क्रियाबोधक पद है। जबतक इन दोनों पदों में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता है, तबतक इस वाक्य का अर्थ नहीं ज्ञात होता है। इन पदों में स्वतः सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। इसके लिए माध्यम की जरूरत है और वह माध्यम आकांक्षा आदि है। तात्पर्य यह है कि वाक्य का अर्थ साक्षात रूप में व्यक्त नहीं होता है, बल्कि असाक्षात या परोक्ष रूप में ज्ञात होता है। कुमारिल ने 'घड़ा लाओ' उदाहरण द्वारा अपनी इस बात की पुष्टि की है। 'घड़ा' का अर्थ मात्र मिट्टी से बना एक बर्तन है। यह इसी व्यापार तक सीमित है। यह अन्य पद के अर्थ से सम्बन्ध नहीं बना पाता है। इसी प्रकार 'लाओ' शब्द का अर्थ भी एक स्वतंत्र क्रिया का बोध कराता है। यह अर्थ भी अन्य पद से सम्बन्ध नहीं बना पाता है। 'घड़ा' शब्द के सुनने से ही घड़ा के विषय में जिज्ञासा होती है— घड़ा क्या? 'लाओ' शब्द के सुनने से ही इस जिज्ञासा की पूर्त्ति होती है। इस प्रकार घड़ा और लाओ में आकांक्षा द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है। केवल आकांक्षा ही नहीं, वरन् आसत्ति (सन्निधि) और योग्यता भी साथ-साथ पायी जाती है। घड़ा और लाओ दोनों शब्दों का उच्चारण साथ-साथ होता है। दोनों शब्दों में वह योग्यता है कि वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। श्रोता वक्ता के तात्पर्य को अच्छी तरह समझ लेता है। अतएव वाक्यार्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों के स्वतंत्र अर्थों में परस्पर सम्बद्ध होने के पश्चात ज्ञात होता है। इस दृष्टिकोण से वाक्य सावयव होते हुए भी अन्वित अर्थ प्रदान नहीं करता है, बल्कि स्वतंत्र अर्थों के परस्पर सम्बद्ध होने पर अभिहित होता है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य में प्रयुक्त संज्ञाबोधक शब्द का अर्थ उसमें प्रयुक्त क्रियात्मक शब्द के अर्थ के साथ जुड़ने पर ही वाक्यार्थ संभव हो। कुमारिल के अनुसार, ''विवरणात्मक वाक्यों में जहाँ किसी क्रिया के सम्पादन का निर्देश नहीं होता, पदों से केवल अलग-अलग अर्थों की ही स्मृति होती चलती है और उन अर्थों से ही उनके एक वाक्यार्थ के रूप में संसर्ग का बोध उत्पन्न होता है।''[99] जैसे— ''गाय उजली है।'' इस वाक्य में 'गाय' संज्ञाबोधक पद है, पर उसका सम्बन्ध किसी क्रियाबोधक पद से नहीं है। गाय और उजला दोनों के अर्थ स्वतंत्र एवं अलग-अलग हैं। उजला गुणवाचक पद है, जिसका सम्बन्ध अन्य संज्ञावाचक पद से भी होता है। किन्तु गाय और उजला दोनों शब्दों का अलग-अलग और स्वतंत्र अर्थ समान्य प्रत्यय या जाति के रूप में अभिहित होता है। गाय का अर्थ गोत्व अर्थात् गो-सामान्य है। इसलिए संसार की प्रत्येक गायों को 'गाय' ही कहा जाता है। इसी प्रकार उजला का अर्थ उजलापन या उजला-सामान्य है। संसार की जितनी भी वस्तुएँ उजली हैं, उन सब में उजलापन निहित है। इसलिए उन्हें उजली वस्तु कही जाती है। सामान्य प्रत्यय होने के कारण शब्दों के अर्थ नियत होते हैं। अतः वाक्य में प्रयुक्त शब्दार्थों का सम्बन्ध भी नियत होता है। फलतः वाक्यार्थ नियत होते हैं। स्पष्ट है कि वाक्यार्थ का आधार जाति या सामान्य है, न कि जाति विशिष्ट व्यक्ति है। जाति ही शब्द का संकेतित अर्थ है। परन्तु उस शब्दबोध्य जाति के

99. पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला; वाक्यार्थ निर्णय, पृ॰ 109.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ अविनाभाव रूप से रहनेवाले व्यक्ति का भी बोध हो जाता है। जाति शब्द की अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात होती है, तो व्यक्ति का ज्ञान शब्द की लक्षणा शक्ति से होता है। प्रभाकर ने जाति से ही व्यक्ति का अर्थ माना है और जाति अभिधा शक्ति से ज्ञात होती है। अतएव जातिविशिष्ट व्यक्ति का ज्ञान अभिधा द्वारा ही होता है, जबकि कुमारिल प्रभाकर के इस मत से सहमत नहीं हैं। जाति और व्यक्ति के अर्थ का आधार अलग-अलग माना गया है। चूँकि अभिधा द्वारा जाति का ज्ञान होता है, इसलिए शब्द का मूल अर्थ जाति या सामान्य है। लक्षणा द्वारा बोधित होने के कारण व्यक्ति का अर्थ गौण होता है। जाति में ही व्यक्ति अन्तर्भावित है। जाति द्वारा ही वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ अभिव्यक्त होता है। तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों में संसर्ग शक्ति नहीं होती है, बल्कि पदों के अर्थ में यह शक्ति वर्तमान है। यही कारण है कि अभिहितान्वयवाद शब्द के विशिष्ट अर्थ को स्वीकार नहीं करता है, बल्कि स्वरूप मात्र अर्थात् अविशिष्ट या असम्बद्ध अर्थ को स्वीकारता है। अन्विताभिधानवाद शब्द के विशिष्ट या सम्बद्ध अर्थ को स्वीकारता है। पार्थसारथि मिश्र ने इन दोनों सिद्धान्तों का सार इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया है।[100]

समीक्षा—कुमारिल ने वाक्यार्थ बोध में संसर्ग या सम्बद्ध अर्थ का आधार लक्षणा को माना है। किन्तु लक्षणा अभिधा पर आधारित होती है। इसलिए लक्षणा पर आधारित अर्थ स्वतंत्र नहीं हो सकता। मूल अर्थ अभिधा ही है। अतः वाक्यार्थ का आधार लक्षणा मानना अनुचित है। परन्तु अभिहितान्वयवादी इस आरोप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि लक्षणा का तात्पर्य सदैव अभिधा अर्थ का बाध नहीं है। "देखो, कौवा दही नहीं खाय" वाक्य में 'कौवा' शब्द का अभिधा अर्थ बाधित नहीं है। फिर भी, 'कौवा' का लक्षणा अर्थ भी निहित है। कौवा से बिल्ली आदि अन्य दही खानेवाले पशुओं का भी बोध होता है। यहाँ श्रोता 'कौवा' के तात्पर्य को समझकर अन्य दही खानेवाले पशु-पक्षियों से तादात्म्य कर पूरे वाक्य का अर्थ समझता है। अतएव वाक्यार्थ के लिए अभिधा और लक्षणा दोनों की आवश्यकता है। चित्सुख की मान्यता है कि "लक्ष्यार्थ बोध के लिए मुख्यार्थ बोध में बाधा आवश्यक शर्त्त नहीं है। पदों के मुख्य अर्थों से वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होने पर भी लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ होता है।"[101] 'कौवा' के मुख्य अर्थ में कोई बाधा नहीं है। फिर भी उसका अर्थ 'लक्षणा' द्वारा अभिहित होता है और उक्त वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र अभिहितान्वयवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ ही निरपेक्ष एवं स्वतंत्र रूप में परस्पर संसर्ग का बोध कराने में सक्षम है, तो वाक्यार्थ बोध के लिए पदों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात, यदि वाक्यार्थ बोध शब्द की अन्तर्निहित शक्ति से उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि शब्द के अर्थ की शक्ति (अभिधा या लक्षणा) से उत्पन्न होता है, तो वाक्यार्थ का यह ज्ञान शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नहीं रखकर एक नया प्रमाण के अंतर्गत रखा जायेगा, जिसे पदार्थ प्रमाण कहा जाना चाहिए। किन्तु मीमांसा दर्शन, चाहे जैमिनी, शबर, प्रभाकर या कुमारिल हों, में पदार्थ प्रमाण के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा गया है। अतः कुमारिल का अभिहितान्वयवाद मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा का ही विरोध करता है। इस ज्ञानमीमांसा के अनुसार प्रमाण छः ही हैं, सात नहीं। कुमारिल ने भी छः प्रमाण को स्वीकारा है। पदार्थ प्रमाण मानने से कुमारिल स्वव्याघात दोष में फंसता है।[102] परन्तु अभिहितान्वयवादियों का मानना है कि

100. वही
101. चित्सुख, तत्त्वप्रदीपिका, पृ० 153
102. वाचस्पति मिश्र, तत्त्वबिन्दु, पृ० 120

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों का संसर्ग बोध होने पर जो वाक्यार्थ बोध होता है, वह पदों के अर्थों के परस्पर सम्बद्ध होने पर ही होता है। इसके बावजूद, पदों के संकेतित अर्थ को जानने के लिए पदों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। अतएव वाक्यार्थ बोध का आधार शब्द या पद ही है। फलतः वाक्यार्थ बोध के लिए पदार्थ प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ही आता है। वस्तुतः वाचस्पति मिश्र की भूल यह है कि उन्होंने पद (शब्द) से होनेवाले शब्दार्थ का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से होनेवाला शब्दार्थ के ज्ञान को एक ही मान लिया है, जबकि उनमें अन्तर होता है। शब्द के अर्थों के संसर्ग बोध से होनेवाले वाक्यार्थ बोध का साधन शब्द है। परन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से उत्पन्न होने वाले पदों के अर्थों के संसर्ग बोध का साधन भिन्न होता है।

अन्विताभिधानवाद वाक्यार्थ बोध के लिए दो चरणों की अपेक्षा करता है, जबकि अभिहितान्वयवाद तीन चरणों की आवश्यकता अनुभव करता है। इन चरणों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया है। फिर भी सुविधा के लिए पुनः उन चरणों का पुनर्कथन किया जा रहा है। वे चरण हैं— पदों के असम्बद्ध अर्थ को जानना, उन अर्थों को सम्बद्ध करना तथा वाक्यार्थ बोध होना। अन्विताभिधानवाद पहला चरण को नहीं मानता है। इसलिए उसने अभिहितान्वयवाद पर गौरव दोष का आरोप लगाया है। परन्तु अभिहितान्वयवाद का मानना है कि यह दोष अन्विताभिधानवाद पर भी लागू होता है। यद्यपि अन्विताभिधानवाद दो ही चरण सम्बद्ध अर्थ और वाक्यार्थ बोध को ही मानता है, फिर भी वह किसी-न-किसी रूप में तीन चरणों को स्वीकार लेता है। जब किसी वाक्य को सुना जाता है या स्मरण किया जाता है, तो प्रत्येक शब्द (वाक्य में प्रयुक्त) से मनुष्य अपनी बुद्धि में निरपेक्ष अर्थ को याद करता है। फिर उसकी स्मृति में सभी श्रुत या स्मृत शब्दों के अर्थों की खण्ड स्मृतियों को एक साथ सामूहिक रूप में लाया जाता है, तब वे शब्द अपनी अन्तर्निहित संसर्ग के बोध द्वारा अपने अर्थों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराते हैं। इस प्रकार यहाँ एक तीसरी शक्ति— समूह रूप में स्मृति बोध— को मानना पड़ता है। वाक्यार्थ के रूप में संसर्ग-बोध का कारण समूह रूप में स्मृति बोध है। शब्द स्मृति का विषय नहीं है। अतः स्मृति शब्दनिष्ठ नहीं है, बल्कि शब्द की संसर्गबोधक शक्ति अर्थात सम्बद्ध अर्थ ही स्मृतिनिष्ठ है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में स्मृति, सम्बद्ध अर्थ तथा वाक्यार्थ के तीन चरणों को स्वीकारा गया है। अतः अभिहितान्वयवाद पर गौरव दोष का आरोपण उचित नहीं है।

फिर भी, अभिहितान्वयवाद को दोषमुक्त नहीं माना जा सकता है। स्मृति द्वारा संसर्गबोध या सम्बद्ध अर्थ भ्रमजन्य हो सकता है। स्मृति बोध में संसर्ग बोध की नियत शक्ति नहीं रहती है। कभी-कभी ऐसे सम्बन्ध की कल्पना स्मृतिजन्य अर्थों द्वारा की जाती है, जो भ्रम पैदा करती है। जैसे— किसी व्यक्ति को एक मकान की स्थान और काल से असम्बद्ध स्मृति होती है। उस स्मृत 'मकान' के अर्थ को एक ऐसे स्थान से जोड़ दिया जाता है, जहाँ वह मकान नहीं है। अतः यह ज्ञान भ्रमात्मक है। इसलिए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि संसर्ग बोध की शक्ति को शब्द की नियत शक्ति नहीं मानने से भ्रमात्मक वाक्यार्थ होने की संभावना बनी रहती है।[103] किन्तु अभिहितान्वयवाद इस आरोपण का उत्तर देते हुए कहता है कि जिस उदाहरण द्वारा स्मृति बोध द्वारा प्राप्त संसर्ग बोध को भ्रमात्मक

103. वही पृ० 113

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, वह व्यावहारिक या लौकिक ज्ञान के संदर्भ में सत्य हो सकता है। किन्तु शाब्दबोध अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञान के संदर्भ में सत्य नहीं है। वाक्यार्थ ज्ञान में वाक्य में प्रयुक्त पदों से स्मृति में आनेवाले असम्बद्ध अर्थों के समूह में अर्थप्रद व्यापार से उत्पन्न होनेवाला संसर्ग बोध भ्रमात्मक नहीं होता है। पद के असम्बद्ध, निरपेक्ष एवं स्वतंत्र अर्थों में परस्पर सम्बद्धता आकांक्षा आदि द्वारा होता है। इसलिए वह प्रामाणिक और अभ्रान्त वाक्यार्थ ज्ञान देता है।

शबर के अनुसार वाक्यार्थ का ज्ञान पद की अभिधा शक्ति और उससे संकेतित अर्थ के संसर्ग बोध से होता है।[104] परन्तु शबर की इस मान्यता में संशोधित करते हुए कुमारिल ने कहा है कि अभिधा शक्ति और उसके संकेतित अर्थ में निहित तात्पर्य शक्ति ही वाक्यार्थ ज्ञान प्रदान करने में सक्षम है। तात्पर्य शक्ति को लक्षणा वृत्ति से जाना जाता है। किन्तु कुमारिल का यह विचार भी संतोषजनक नहीं है। एक ओर वाक्यार्थ बोध को लक्षणा पर आधारित मानकर वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में उसे अन्तर्निहित माना गया है, तो दूसरी ओर उसे तात्पर्य शक्ति की संज्ञा देकर पदनिष्ठ व्यापार मान लिया गया है। यह कुमारिल के विचार की असंगति है। परन्तु कुमारिल का मानना है कि यहाँ कोई असंगति नहीं है। शब्द के अर्थ का बोध शब्द में अन्तर्निहित अभिधा वृत्ति से ही होता है और शब्दों के अर्थों में पारस्परिक संसर्ग बोध का परिणाम वाक्यार्थ के ज्ञान में होता है। संसर्ग बोध ही तात्पर्य शक्ति का निर्देशक है। दूसरे शब्दों में वाक्यार्थ ज्ञान का आधार संसर्ग बोध में निहित तात्पर्य शक्ति है और संसर्ग बोध का आधार शब्दों में अन्तर्निहित अभिधा शक्ति एवं लक्षणा शक्ति है। इसलिए अभिहितान्वयवाद किसी असंतोषजनक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता है। वर्धमान के अनुसार शब्द के तात्पर्य अर्थ में वाच्य (अभिधा) अर्थों के वाक्यीय संघटन की प्रवृत्ति रहती है। तात्पर्य अर्थ अपनी शक्ति या अभिधा शक्ति से अपनी सिद्धि नहीं कर पाता है। इसलिए उसकी सिद्धि लक्षणा नामक एक सहायक शब्द-शक्ति से की जाती है। लक्षणा वृत्ति ही शब्दार्थों के बीच वाक्यात्मक संसर्ग का बोध कराती है। वाच्य (अभिधा) अर्थ और लक्षणा अर्थ के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण वाक्य में लक्षणा अर्थ की अभिव्यक्ति की सभी अपेक्षित स्थितियाँ रहती हैं। यही कारण है कि लक्षणा शक्ति से संसर्ग (सम्बद्ध) अर्थ के बोध में अभिधा शक्ति से प्राप्त शब्द के संकेतित अर्थ साधक (वाक्यार्थ) हेतु बन जाते हैं।[105]

नैयायिकों ने भी माना है कि वाक्य पदों या शब्दों की समष्टि है। यह ऐसी समष्टि है जिसके घटक (अवयव) वाक्य में प्रयुक्त पद होते हैं। वे अवयव स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप में अपना अर्थ प्रदान करते हैं। परन्तु पदों के स्वतंत्र और निरपेक्ष अर्थ द्वारा वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं होता है। वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण वाक्य द्वारा ही होती है। कुमारिल और नैयायिकों में यही अन्तर है कि कुमारिल ने वाक्य के अवयवों अर्थात् पदों के अर्थों की सम्बद्धता द्वारा वाक्यार्थ बोध को स्वीकारा है, किन्तु नैयायिकों ने सम्पूर्ण वाक्य को ही वाक्यार्थ बोध का आधार बतलाया है। वैयाकरणों की भी मान्यता है कि वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण वाक्य द्वारा ही होती है। वाक्य एक अखण्ड या अविभाज्य इकाई है। इस इकाई से ही अपृथ्क्-सिद्ध वाक्यार्थ का प्रत्यक्षतः बोध होता है। अपृथ्कसिद्ध का

104. शबरस्वामी, मीमांसासूत्रभाष्य, पृ॰ 96
105. वर्धमान उपाध्याय, न्यायकुसुमांजलिप्रकाशटीका, पृ॰ 218-19

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त सभी पद स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं हैं, बल्कि वे एक-दूसरे से ऐसे जुड़े होते हैं कि उन्हें अलग करना असम्भव है। वे मूलतः वाक्य स्वरूप ही हैं। किन्तु कुमारिल की मान्यता है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ स्वतंत्र और निरपेक्ष होता है। ये पद क्रमबद्ध रूप में प्रयुक्त होते हैं। उनके अर्थ भी क्रमबद्धतः प्रकाशित होते हैं। इसी क्रमबद्धता द्वारा ही वाक्य का अर्थ अभिहित हो पाता है। अतएव वाक्य स्वतंत्र रूप में अखण्ड या अविभाज्य नहीं होता अर्थात् वाक्यार्थ पदों पर ही आधारित होता है। तात्पर्य यह है कि वाक्य सावयव होता है और उसके अर्थ अपने अवयवार्थ पर आधारित है। नैयायिकों का विचार कुमारिल से मिलता-जुलता है। लेकिन इन दोनों के विचार में अन्तर है, जिसका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में किया गया है। कुमारिल नैयायिकों के विचार में व्याघात दोष देखता है। यदि वाक्य में प्रयुक्त पद समष्टिगत हैं और उनके स्वतंत्र एवं निरपेक्ष अर्थ होते हैं, तो पुनः वाक्यार्थ के लिए वाक्य को इकाई मानना या आधार स्वीकारना आत्मविरोध में फँसना है। वस्तुतः कुमारिल की दृष्टि में वैयाकरणों और नैयायिकों ने पद (शब्द) और पद की शक्ति (शब्दशक्ति) को महत्वहीन मानकर उनकी उपेक्षा की है।

यद्यपि कुमारिल ने अपनी तार्किक शक्ति से अभिहितान्वयवाद पर लगायी गयी आपत्तियों का सटीक उत्तर दिया है, फिर भी एक सवाल तात्पर्य के स्वरूप से सम्बन्धित रह जाता है। मम्मट भट्ट के अनुसार तात्पर्य वाक्य का उद्दिष्ट अर्थ है, वह अर्थ-ज्ञान कराने में सहायक शब्द (अर्थ)— व्यापार नहीं है। वास्तव में, तात्पर्य एक मनोगत तत्त्व है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति करने में ही वाक्य की सार्थकता होती है। इसलिए मम्मट ने तात्पर्य के स्थान पर तात्पर्यार्थ शब्द का प्रयोग किया है। वाक्यार्थ अर्थात् उद्दिष्ट फल की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त वाक्य में लक्ष्यभूत तात्पर्यार्थ की सिद्धि आकांक्षा आदि के आधार पर पदों के असम्बद्ध अर्थों की परस्पर सम्बद्धता द्वारा होती है। अतः तात्पर्य वाक्यार्थ बोध का साधन नहीं है, बल्कि वाक्य का साध्य अर्थ है। दूसरी बात यह है कि लक्षणा शक्ति और तात्पर्य शक्ति में सूक्ष्म भेद है जो सैद्धान्तिक और तात्त्विक मात्र है। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनों शक्तियाँ एक ही हैं। लक्षणा अर्थ को समझने के लिए तात्पर्य को समझना आवश्यक है। यही कारण है कि मम्मट ने तात्पर्य को शब्द-व्यापार न मानकर वाक्य का उद्दिष्ट अर्थ माना है। कुमारिल ने तात्पर्य का अर्थ शब्द-व्यापार माना है। मुकुल भट्ट कुमारिल से सहमत हैं। उनके अनुसार शब्द अपनी अभिधा शक्ति से साक्षात संकेतित जाति-रूप अर्थ का बोध कराते हैं तथा लक्षणा शक्ति से जाति के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहनेवाले व्यक्ति का बोध कराते हैं।[106] मुकुल भट्ट ने भी माना कि वाक्यार्थ बोध के लिए सर्वप्रथम वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ रूप से जानना होता है। वे अर्थ जाति का बोध कराते हैं। यह अभिधा अर्थ है। किन्तु इस जाति का लक्षणा अर्थ लेने से व्यक्ति का ज्ञान होता है। अभिधा अर्थ असम्बद्ध होते हैं। उन्हें सम्बद्ध करने के पश्चात लक्षणा अर्थ व्यक्त होता है, और उसके पश्चात वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिए तीन चरणों की आवश्यकता है। परन्तु मम्मट भट्ट मुकुल भट्ट से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि व्यक्ति का ज्ञान जाति के अर्थ द्वारा आक्षेप से होता है, न कि किसी शब्दशक्ति (लक्षणा) द्वारा।[107] अतः जहाँ मुकुल कुमारिल से पूर्ण सहमत है, वहाँ मम्मट कुमारिल से

106. मुकुल भट्ट, अभिधावृत्तिमातृका, पृ॰ 4
107. मम्मट भट्ट, काव्यप्रकाश, पृ॰ 44

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आंशिक सहमति रखता है। वस्तुतः मम्मट का अभिहितान्वयवाद नैयायिकों के समकक्ष है। यही कारण है कि गोविन्द ठाकुर जैसे काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने न्याय दर्शन में कुमारिल के विचार— तात्पर्यार्थ वाक्यार्थ का स्वरूप है— वाले अभिहितान्वयवादी दृष्टि का प्रतिपादन हुआ माना है। परन्तु टीकाकारों का यह मंतव्य सही नहीं है। कुमारिल ने नैयायिकों के वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया की आलोचना की है।

वस्तुतः कुमारिल का अभिहितान्वयवाद अपेक्षाकृत संगत है। यद्यपि अन्विताभिधानवादियों ने अभिहितान्वयवाद की आलोचना की है, परन्तु दोनों सिद्धान्त अपने-अपने दृष्टिकोण से सही है। एक की दृष्टि शब्दार्थ की शक्तियों तक सीमित है, तो दूसरे की दृष्टि शब्द के तात्पर्य अर्थ तक विस्तारित है। शब्दार्थ-शक्ति का अर्थ है कि शब्द की अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ। अन्विताभिधानवाद शब्द की अभिधा वृत्ति से वाक्यार्थ बोध की प्राप्ति मानता है। अभिधा अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों का सम्बद्ध अर्थ है, स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं। इसी सम्बद्धता द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है। अभिहितान्वयवाद वाक्य में प्रयुक्त पदों के अभिधा अर्थ को सम्बद्ध नहीं मानता है। ये अर्थ स्वतंत्र और निरपेक्ष होते हैं। इनमें सम्बद्धता लक्षणार्थ द्वारा होती है और वक्ता के तात्पर्य द्वारा वाक्य का अर्थ अभिहित होता है। इस प्रकार जहाँ अन्विताभिधानवाद मूलतः शब्द के अभिधा अर्थ पर केन्द्रित है, वहाँ अभिहितान्वयवाद अभिधा और लक्षणा अर्थ के साथ-साथ उन अर्थों के तात्पर्य पर भी निर्भर है। अतएव इन दोनों सिद्धान्तों में जो मौलिक भिन्नता दीखती है, वह वक्ता और श्रोता के दृष्टिकोण से। वक्ता के अभिप्राय को समझने पर ही वाक्यार्थ का सही ज्ञान होता है। यह अन्विताभिधानवाद का मंतव्य है। शब्द के अर्थ को सही-सही जानने पर ही उसके तात्पर्य को समझा जा सकता है और तब वाक्यार्थ बोध होता है। यह अभिहितान्वयवाद का विचार है। अतः कहा जा सकता है कि अभिहितान्वयवाद का दृष्टिकोण आत्मनिष्ठ है, क्योंकि वह श्रोताकेन्द्रित हैं, जबकि अन्विताभिधानवाद का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है, क्योंकि वह वक्ताकेन्द्रित होने से शब्दनिष्ठ हैं। किन्तु अभिहितान्वयवाद आकांक्षा आदि को स्वीकार कर वस्तुनिष्ठ भी हो जाता है। अन्विताभिधानवाद वक्ता को महत्व देकर आत्मनिष्ठ हो जाता है। अतः इन दोनों सिद्धान्तों का विरोध वास्तविक नहीं है, बल्कि सतही है। यही कारण है कि धीरेन्द्रमोहन दत्त ने इनके अन्तर को समाप्त करने का परामर्श दिया है— "यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त क्रमशः वक्ताकेन्द्रित और श्रोताकेन्द्रित हैं और इनमें सतही स्तर पर विरोध दीखता है, परन्तु इन्हें एक-दूसरे से समन्वित और संश्लेषित स्पष्टतः किया जा सकता है।"[108] अर्थात् इनका विरोध समाप्त करना आसान है। सच पूछिए, तो ये दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

□

108. धीरेन्द्र मोहन दत्त, सिक्स वेज ऑफ नॉलेज, 6.4

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नवम अध्याय

स्फोटवाद

स्फोटवाद का प्रवर्त्तक

भारतीय दर्शन, विशेषकर व्याकरण-दर्शन या भाषा दर्शन, के अन्तर्गत स्फोटवाद एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक स्फोटायन ऋषि माने जाते हैं। पाणिनी ने अपने 'अष्टाध्यायी' में इस ऋषि का उल्लेख किया है।[109] नागेश भट्ट की पुस्तक 'स्फोटवाद' में इस ऋषि को ही स्फोटवाद का प्रतिपादक माना गया है।[110] हरदत्त की काशिकावृत्ति की टीका में भी इस तथ्य का समर्थन मिलता है।[111] भरद्वाज ऋषि की भी मान्यता है कि स्फोटायन नामक ऋषि हुए थे।[112] परन्तु गुरूपद हालदार का मानना है कि कक्षीवत पर्वत में 'ओशिज' नामक ऋषि रहते थे, जिन्होंने शब्द के अर्थ की स्व-अभिव्यक्ति की शक्ति को 'स्फोट' नाम दिया था। फलतः उस ऋषि को 'स्फोटायन' कहा जाने लगा।[113] जो हो, मान्यता यही है कि स्फोटायन ही स्फोटवाद के प्रवर्त्तक हैं। स्फोटायन के पूर्व 'औदुम्बरायण' नामक विद्वान ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बतलानेवाला सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। किन्तु उन्होंने 'स्फोट' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। पाणिनी के पूर्व 'स्फोट' शब्द का प्रयोग संभवतः नहीं देखा जाता है।[114] यास्क के 'निरूक्त' में शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्धों का प्रतिपादन हुआ है, जो वस्तुतः स्फोट का ही सिद्धान्त है। इसलिए माना जाता है कि स्फोटवाद का सबसे पहले उल्लेख 'निरुक्त' में मिलता है। किन्तु कई पुराणों में भी 'स्फोट' शब्द का उल्लेख है।[115] इन सभी ग्रंथों में स्फोट को "बुद्धिस्थ नित्य शब्द" की संज्ञा दी गयी है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' में नित्य शब्द सम्बन्धी तीन विचारों का उल्लेख किया है।[116]

(क) जिस क्रमवान शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह निचले स्तर का है, उससे भिन्न कोई अक्रम शब्द रूप हैं जो बुद्धि में व्यापक रूप से स्थित रहता है, उसी से अर्थ का ज्ञान होता है। यह विचार औदुम्बरायण, वार्ताक्ष और यास्क का है। इस विचार में स्पष्ट

109. पाणिनी, अष्टाध्यायी, 1.1.68
110. नागेश भट्ट, स्फोटवाद, अध्याय 1
111. हरदत्त, काशिकावृत्ति (पदमंजरी) टीका, 6.1.123.
112. भरद्वाज, विमानशास्त्र, शौनकसूत्र
113. गुरूपद हालदार, व्याकरणदर्शनिर इतिहास, उद्धृत डॉ॰ शिवशंकर अवस्थी, वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकांडम्), पृ॰ 16 से.
114. डॉ॰ शिवशंकर अवस्थी, उपर्युक्त, पृ॰ 17
115. हरिवंशपुराण, 88.55, श्रीमद्भागवत, 10.85.9 एवं 12.6.40, गर्गसंहिता, गोलोक खण्ड, अध्याय 3.
116. डॉ॰ शिवशंकर अवस्थी, वही.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप से कहा गया है कि बोलचाल की भाषा में जिन शब्दों का क्रमिक उच्चारण होता है, उनसे अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अर्थ की अभिव्यक्ति उस नित्य शब्द से होती है जो हमारी बुद्धि में स्थित पाया जाता है। नित्य शब्द से अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ भी नित्य होता है। यह विचार शब्दनित्यतावाद कहलाता है।

(ख) जिस प्रकार वर्णों में वर्ण (अक्षर) के चौथाई भाग (परमाणु के समान अवयव भेद) विद्यमान होकर वर्ण-जाति को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार विविध वाक्यों में विद्यमान पदों में स्थित क्रमजन्य तथा उच्चरित नाशवान वर्ण पद-जाति को व्यक्त करते हैं। जैसे— 'वृक्ष' शब्द 'वृक्षत्व' जाति को अभिव्यक्त करता है। यह जाति ही स्फोट है जो वृक्ष शब्द का अर्थ है। यह वर्ण, पद और वाक्य रूप स्फोट है। क्रमजंन्य तथा उच्चरित नाशवान वर्ण केवल ध्वन्यात्मक हैं जो पदों को अभिव्यक्त करती हैं, अर्थ प्रदान नहीं करती। यह विचार स्फोटवादी वैयाकरणों का है। इस मत में बतलाया गया है कि वर्ण सावयव होते हैं और वे क्रमिक होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। चूँकि पद वर्णों से बनते हैं, इसलिए पद भी सावयव होते हैं। अतः पद भी एक-दूसरे से भिन्न हैं।वाक्य भी पदों से निर्मित होने के कारण सावयव है। इसलिए वाक्य भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह भिन्नता स्फोट में अर्थात् शब्दार्थ में नहीं होतीं, क्योंकि वह निरवयव होता है। वर्ण, पद या वाक्य के उच्चारण से ध्वनि निःसृत होती है। ये ध्वनियाँ वर्णस्फोट, पदस्फोट या वाक्यस्फोट को अभिव्यक्त करती हैं जो जातिरूप मात्र हैं। इसलिए शब्द अक्रमिक और नित्य होता है। यह विचार जातिस्फोटवाद या निरवयव स्फोटवाद कहलाता है।

(ग) शब्द की दो शक्तियाँ हैं— स्वयं को प्रकाशित करने की शब्दशक्ति तथा अर्थ को प्रकाशित करने की शब्दशक्ति। जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशित करते हुए अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शब्द स्वयं को अभिव्यक्त करता है और साथ ही साथ अपने अर्थ को भी अभिव्यक्त करता है। यहाँ बतलाया गया है कि शब्द और शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य अवश्य है, किन्तु इसका ज्ञान व्यवहार के स्तर पर होता है। घट, पट आदि बाह्य वस्तुएँ स्वयं प्रकाशवान नहीं हैं, उन्हें प्रकाशित करने के लिए दीपक की आवश्यकता है। शब्दार्थ भी स्वयं प्रकाशवान नहीं होता, शब्द के प्रयोग द्वारा ही उसका प्रकाशन हो पाता है। शब्द का निरन्तर अविच्छेद प्रयोग ही शब्द के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, दैनिक व्यवहार या प्रचलन के आधार पर ही शब्दार्थ को नित्य माना जाता है। संभवतः यह विचार व्याडि आदि वैयाकरणों का है।

ये तीनों विचार शब्द और शब्दार्थ को नित्य मानते हैं। अतएव ये तीनों शब्द नित्यतावाद का ही प्रतिपादन करते हैं। परन्तु दूसरा विचार मूलतः स्फोटवाद का स्पष्ट संकेत देता है। पतंजलि आदि वैयाकरणों ने इस विचार को स्वीकारा है। भर्तृहरि भी स्फोटवादी हैं। स्फोटवाद और शब्दनित्यतावाद एक प्रकार से पर्यायात्मक सिद्धान्त हैं। पतंजलि और भर्तृहरि के स्फोटवादी विचार में एक अन्तर यह भी है कि पतंजलि ने शुद्ध वैयाकरण दृष्टि से स्फोटवाद की स्थापना की है, तो भर्तृहरि ने आध्यात्मिक या तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण अपनाकर स्फोटवाद का प्रवर्त्तन किया है। इन दोनों के स्फोटवादी विचार की विवेचना करने के पूर्व 'स्फोट' शब्द के अर्थ को जानना आवश्यक है।

स्फोट का अर्थ—'स्फोट' शब्द 'स्फुट्' धातु से बना है। स्फुट् का अर्थ होता है खिलना, विकसित होना, प्रस्फुटित होना, बढ़ना या विस्तारित होना। अतः जो अपना विस्तार करे, अपने को विकसित या प्रस्फुटित करे, जो स्वयं खिल जाय, वही स्फोट है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहा भी गया है— स्फुटति स्फुटिभवति इति स्फोट : अर्थात् स्फोट वही है जो स्वयं को विकसित करता है। ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है जो स्वयं को विकसित या अभिहित करता है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति विभिन्न चराचर पदार्थों के रूप में होती है। यद्यपि ब्रह्म एक, पूर्ण, निरवयव, अविभाज्य है, पर चराचर पदार्थ अनेक, अपूर्ण, सावयव, विभाज्य होते हैं। यही कारण है कि ब्रह्म को एकमात्र सत्य सत्ता माना गया है। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म ही स्फोट है। स्फोट शब्द में निहित अर्थ है। अतएव ब्रह्म ही शब्द या शब्दार्थ है। इस दृष्टिकोण से स्फोट को "शब्दब्रह्म" की संज्ञा दी जाती है। भर्तृहरि ने स्फोट को शब्दब्रह्म के रूप में ही स्वीकारा है। यह स्फोट का तत्त्वमीमांसीय अर्थ है।

माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह में स्फोट की परिभाषा दी गयी है— स्फुट्यते व्यज्यते वर्णः इति स्फोटः अर्थात् जो वर्णों द्वारा व्यंजित या अभिव्यक्त हो, उसे स्फोट कहते हैं। वस्तुतः यह परिभाषा पाणिनी द्वारा दी गयी है। पाणिनी के अनुसार स्फोट का आधार ब्रह्म जैसी कोई तत्त्वमीमांसीय सत्ता नहीं है, वरन् भाषा की इकाई वर्ण या अक्षर मात्र है। अतः स्फोट का तात्पर्य वर्णस्फोट से लिया जा सकता है।

वैयाकरणभूषणसार में कोंड भट्ट ने शब्दार्थ को ही स्फोट की संज्ञा दी है। कहा गया है कि स्फुटति अर्थः अस्मद् इति स्फोटः अर्थात् जिससे अर्थ की अभिव्यक्ति हो, वही स्फोट है। कोंड के अनुसार स्फोट अर्थप्रत्ययात्मक होता है, न कि वर्णाश्रित या ब्रह्माश्रित।

पाणिनी और कोंड द्वारा दी गयी स्फोट की परिभाषा भाषायी अर्थ में प्रस्तुत की गयी है। अतएव कहा जा सकता है कि स्फोट के मूलतः दो अर्थ हैं— तत्त्वमीमांसीय अर्थ तथा भाषायी (भाषाशास्त्रीय) अर्थ। भाषाशास्त्रीय अर्थ भी दो प्रकार के हैं— वर्णरूपात्मक स्फोट तथा अर्थप्रत्ययात्मक स्फोट। स्फोट के इन अर्थों को एक तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

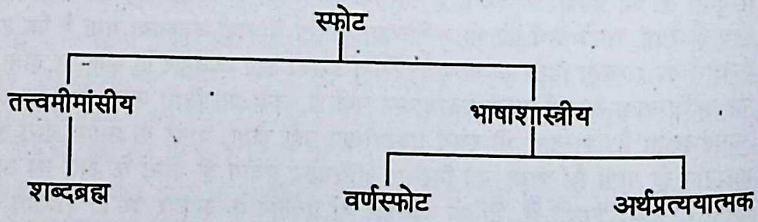

चाहे स्फोट इन तीनों में किसी रूप में स्वीकार किया जाय, इनमें एक सामान्य विशेषता अवस्थित है। वह है नित्यता। स्फोट शब्दब्रह्म हो या वर्णाभिव्यंजित या अर्थप्रत्ययात्मक, तीनों रूपों में वह नित्य है। शब्दब्रह्म होने से वह वर्णों से भिन्न या परे होता है। सम्भवतः यही कारण है कि भर्तृहरि, व्याडि आदि ने स्फोट को "वर्णातिरिक्त" कहा है।[117]

पतंजलि का स्फोटवाद—पतंजलि की मान्यता है कि शब्द नित्य होता है। इसलिए नित्य शब्दों में वर्णों को भी कूटस्थ और अविचल होना चाहिए जिनकी न उत्पत्ति होती है, न विनाश होता है और न ही जिनमें विकार होता है।[118] अर्थात वर्ण या अक्षर उत्पत्ति-विनाश के परे अक्षय, नित्य और अविकारी है। शब्द वही है जो श्रोतेन्द्रिय से उपलब्ध

117. हरिमोन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 11
118. पतंजलि, महाभाष्य, आ॰ 2.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है, जिसे बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, जो प्रयोग (उच्चारण) से प्रकाशित होता है, और जो आकाश में अवस्थित तत्त्व हैं। शब्द का आश्रयभूत आकाश भी एक या अखण्ड है।[119] आकाश की न तो उत्पत्ति होती है और न ही विनाश। वह नित्य होता है। वह निरवयव है। इसलिए उसे एक और अविभाज्य कहा गया है। आकाश ही शब्द का आधार है। वस्तुतः शब्द आकाश का धर्म (गुण) है। धर्म अपने धर्मी (विशेष्य) से कभी अलग नहीं रहता। धर्म-धर्मी में समवाय संबंध पाया जाता है। अतः शब्द और आकाश अभिन्न हैं। यही कारण है कि पतंजलि ने शब्द को आकाश के समान उत्पत्ति-विनाश के परे माना है। शब्द की कण्ठ, तालु आदि के प्रयत्न से उत्पन्न ध्वनि द्वारा उपलब्धि या अभिव्यक्ति मात्र होती है। इसलिए उसे "श्रोतेन्द्रिय से उपलब्ध तत्त्व" कहा गया हैं। ध्वनि का ग्रहण श्रोतेन्द्रिय ही करती है।

यदि शब्द उत्पत्ति-विनाश के परे है, तो शब्द में निहित वर्ण के अपने उच्चारण के दूसरे क्षण में विनष्ट होने पर शब्द की उपलब्धि का होना असम्भव है। परन्तु पतंजलि इस समस्या का समाधान शब्द को "बुद्धिग्राह्य" की संज्ञा देकर करता है। प्रत्येक पूर्व ध्वनि से उत्पन्न अभिव्यक्ति की संस्कार-परम्परा बनती जाती है। ध्वनि के विनष्ट होने पर यह अभिव्यक्ति संस्कार रूप में बुद्धि में स्थित रहती है। जब अन्तिम परिपाक की स्थिति में शब्द के अन्तिम वर्ण का ज्ञान अथवा अन्तिम ध्वनि से उत्पन्न अभिव्यक्ति का ज्ञान होता है, तब शब्द का ग्रहण होता है। इसलिए शब्द को बुद्धिग्राह्य कहा गया है। परिपाक का अर्थ है स्फोट का रूप वैशिष्ट्य लाभ। यह एक-एक ध्वनि से विशिष्टतर, विशिष्टतम रूप में पुनः पुनः होता है। इसलिए परिपाक भिन्न-भिन्न होते हैं और उसे "आवृत्त परिपाक" कहा गया है। मंडन मिश्र ने उदाहरण द्वारा 'परिपाक' शब्द को समझाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार जब कोई जौहरी किसी रत्न की जाँच करता है, तो उसके सामने रत्न की पहचान— उसके नाम और स्वरूप—की समस्या रहती है। वह इस समस्या के समाधान के लिए रत्न को बार-बार देखता है। बार-बार देखने से उसकी बुद्धि में रत्न के देखने सम्बन्धी अव्यक्त संस्कारों की अवस्थिति हो जाती है। जब जौहरी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अन्तिम बार रत्न को देखता है, तो वह रत्न की वास्तविकता को जान लेता है। यदि बार-बार देखने से विशिष्ट-विशिष्ट संस्कारों का आधान नहीं माना जाय, तो रत्न की वास्तविकता का प्रकाशन अर्थात् पहचान नहीं हो पायेगा। इसका कारण है कि प्रथम दर्शन (पहले क्षण का देखना) मध्य और अन्तिम दर्शन (बाद के क्षणों का देखना तथा अन्तिम क्षण का देखना) में कोई वैशिष्ट्य ही नहीं रहेगा।[120] कैयट ने भी माना है कि शब्द का पूर्ण ज्ञान उसके अन्तिम वर्ण के ज्ञान से ही सम्भव है तथा उसके पूर्व आनेवाली ध्वनियाँ शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं। उस अभिव्यक्ति से उत्पन्न संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण के ज्ञान का योग होने पर ही पूर्ण शब्द का ज्ञान होता है। पूर्व उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त शब्दतत्त्व का संस्कार तथा शब्द के अन्तिम वर्ण के ज्ञान से संस्कार-परम्परा के योग की यह प्रक्रिया, जिससे पूर्ण शब्द का ज्ञान होता है, बुद्धि में ही घटित होती है। अतः शब्द बुद्धिग्राह्य है।[121]

---

119. वही

120. मंडन मिश्र, स्फोटसिद्धि, उद्धृत डॉ॰ शिवशंकर अवस्थी, उपर्युक्त, पृ॰ 24

121. कैयट, भाष्यप्रदीप, पृ॰ 95

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पतंजलि ने शब्द को **नित्य और आकाश में सदैव** विद्यमान माना है, फिर भी शब्द की उपलब्धि सदैव नहीं होती है। इस समस्या का समाधान 'प्रयोग (उच्चारण)' शब्द द्वारा किया गया है। तात्पर्य यह है कि शब्द की उपलब्धि उच्चारण द्वारा ही होती है। जो शब्द वर्तमान श्रौतेन्द्रिय को उपलब्ध हो रहा है, वही ध्वनि उच्चारण या वर्ण का प्रयोग है। इसी प्रयोग से नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है। नित्य शब्द ही स्फोट है। कैयट के अनुसार पतंजलि ने शब्द को ही स्फोट कहा है। स्फोट की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। वह नित्य होता है। किन्तु स्फोट की सत्ता उच्चारण पर निर्भर नहीं करती है। उच्चारण से तो केवल ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। स्फोट सदैव विद्यमान रहता है।उसी से अर्थ का ज्ञान होता है। यही कारण है कि स्फोट को अर्थसंप्रत्यय का कारण बतलाया गया है और उसे शब्द की संज्ञा दी गयी है।[122] नित्य और आकाश में सदैव स्थित होने के कारण शब्द को अखण्ड बतलाया गया है। शब्द या स्फोट की अखण्डता की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट ने कहा है कि शब्द अर्थात् स्फोटरूप शब्दतत्त्व एक है। फिर भी उसमें पूर्वापर तथा देशगत भेद पाया जाता है। इस समस्या का समाधान करते हुए नागेश ने कहा कि जिस प्रकार आकाश एक और अखण्ड होते हुए भी घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में उस (आकाश) के भेद की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार शब्द या अर्थसंप्रत्ययक स्फोट के एक और अखण्ड होने पर भी उसमें देशगत और पूर्वापर भेद होता है। वस्तुतः यह भेद विभिन्न देशों और कालों में रहनेवाले व्यक्तियों द्वारा उच्चरित प्रकाशक ध्वनियों के कारण होता है।[123] अतः शब्द या स्फोट एक और अखण्ड है। यही कारण है कि शब्द में स्फोट और ध्वनि दोनों रहते हैं। पतंजलि का मानना है कि "शब्द में स्फोट और ध्वनि दोनों रहते हैं। ध्वनि का रूप व्यक्त होने के कारण ध्वनि ही दिखायी पड़ती है। लघुता और दीर्घता, वृद्धि और ह्रास ध्वनि का ही धर्म है। किसी नगाड़े की ध्वनि कुछ दूर तक ही जाती है, तो दूसरे नगाड़े की ध्वनि उससे अधिक दूर तक जाती है। दोनों में स्फोट एक-सा ही रहता है, किन्तु उसके प्रसार (दूर-नजदीक) की दीर्घता और लघुता ध्वनि के कारण रहा करती है।"[124] पतंजलि की इस मान्यता का समर्थन नागेश और कैयट ने भी किया है। कैयट का मानना है कि स्फोट स्वयं विद्यमान होकर भी अर्थ का बोध तब तक नहीं करा सकता, जब तक ध्वनियों से व्यंजित होकर वह श्रोता से गृहीत न हो। स्फोट की व्यंजना के लिए ध्वनियों का उच्चारण अपेक्षित है। स्फोट व्यंग्य है, ध्वनि व्यंजक है। अतः ध्वनियों से अभिव्यक्त होने पर ही स्फोट अर्थबोध का कारण बनता है। ध्वनियों का उच्चारण न हो, तो व्यंजक के अभाव में व्यंग्य का प्रकाश नहीं होने के कारण अर्थ का ज्ञान कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। स्फोट की व्यंजना के लिए क्रम विशेष में सन्निविष्ट वर्णों का उसी क्रम से उच्चारण करना अनिवार्य है।[125] नागेश ने भी कैयट का समर्थन करते हुए कहा है कि स्फोट और ध्वनि में व्यंग्य-व्यंजक का सम्बन्ध है। स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यंजक है। ध्वनि से ही अव्यक्त स्फोट की अभिव्यंजना होती है। वृद्धि और ह्रास स्फोट की व्यंजना करनेवाली ध्वनि में दीखती है। व्यंजक के वृद्धि-ह्रास से व्यंग्य स्फोट में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि स्फोट काल-भेद से मुक्त है। ध्वनि स्वयं को प्रकाशित

122. पतंजलि, उपर्युक्त, 1.1.69.
123. नागेश भट्ट, उद्योत, 1.1.69.
124. पतंजलि, वही, 1.1.67.
125. कैयट, उपर्युक्त, पृ॰ 12-13

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करते हुए स्फोट को भी प्रकाशित करती है। अतएव ध्वनि और स्फोट दोनों प्रत्यक्षसिद्ध हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। चूँकि ध्वनि स्फोट का व्यंजक है। इसलिए उसे शब्द का गुण माना जाता है।[126] स्पष्ट है कि पतंजलि के अनुसार स्फोट नित्य शब्द है। यह अर्थ संप्रत्ययात्मक है। परन्तु इसकी अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा होती है। ध्वनि शब्द में निहित है। इसलिए उसे शब्द का गुण माना गया है। दूसरे शब्दों में, ध्वनि ही वह माध्यम है जो शब्द या स्फोट को अभिव्यंजित करती है। फिर भी, ध्वनि शब्द या स्फोट की तरह नित्य नहीं होती है। ध्वनि में उतार-चढ़ाव होता है। अतः ध्वनि अनित्य है, परिवर्तनशील है, जबकि स्फोट या शब्द नित्य है, अपरिवर्तनशील है। वस्तुतः पतंजलि ने शब्द और उसके अर्थ (स्फोट) में भेद नहीं किया है। वे अभेद और एक हैं। यही कारण है कि शब्द को अर्थ का संकेतक माना गया है या स्फोट को शब्दतत्त्व कहा गया है।[127]

भर्तृहरि का स्फोटवाद—पतंजलि ने नित्य शब्द को स्फोट की संज्ञा दी। इसलिए उसका स्फोटवाद शब्दनित्यतावाद कहलाता है। भर्तृहरि भी शब्दनित्यतावाद का समर्थन करता है। परन्तु जहाँ पतंजलि का शब्दनित्यतावाद व्याकरण की दृष्टि से प्रतिपादित हुआ है, वहाँ भर्तृहरि का शब्दनित्यतावाद **तत्त्वमीमांसीय दृष्टि** से प्रतिपादित हुआ है। वस्तुतः भर्तृहरि ब्रह्मवादी हैं। ब्रह्मवाद के अनुसार परमसत्ता मात्र ब्रह्म है। वह पूर्ण, एक, निर्विकार, निर्विशेष, अद्वैत, कूटस्थ सत्ता है। यही सत्ता एकमात्र सत्य है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है— एकोऽहं द्वितीयोनाऽस्ति। एक मैं (ब्रह्म) ही हूँ, दूसरा कोई नहीं है। फिर भी ब्रह्मवाद में 'दूसरे' की व्याख्या की गयी है। वह दूसरा (जगत) ब्रह्म का विवर्त्त या अध्यास मात्र है। यह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं। इसलिए कहा गया है— ब्रह्मसत्यमजगन्मिथ्याः। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य सत्ता है, जगत मिथ्या है। भर्तृहरि भी ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य सत्ता स्वीकार करते हुए उसे 'शब्दब्रह्म'' की संज्ञा देता है। उनका मानना है कि ब्रह्म को जानने या उसके संबंध में बतलाने के लिए शब्द की ही आवश्यकता होती है। शब्द ही ऐसी सत्ता है जिसके सम्पर्क के बिना संसार— लौकिक या अलौकिक— की किसी वस्तु का ज्ञान असम्भव है।[128] तात्पर्य है कि शब्द ही ब्रह्म की व्याख्या कर पाता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में हम जो कुछ भी कहते हैं, वे सभी शब्द मात्र ही हैं। ब्रह्म को 'अनिर्वचनीय' कहना भी तो शब्द ही है। अतः शब्द ही परमसत्ता है और ब्रह्म का ही पर्याय है। इसलिए भर्तृहरि ने शब्द या स्फोट को ''शब्दब्रह्म'' कहा है। तात्पर्यचन्द्रिका में कहा गया है कि ब्रह्म ही स्फोट के रूप में अर्थप्रकाशक होता है।[129] अर्थप्रकाशक ब्रह्म (स्फोट) ही शब्दब्रह्म है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए भर्तृहरि के इन शब्दों की व्याख्या अपेक्षित है। ''शब्दशास्त्री उपादान शब्दों में दो प्रकार के शब्दों की सत्ता मानते हैं जिनमें एक शब्दों का कारण होता है और दूसरा अर्थ में प्रयुक्त होता है।''[130] पुण्यराज ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा कि 'उपादान' शब्द के दो अर्थ होते हैं। उपादान अर्थात स्फोट तात्त्विक अर्थ में स्वयं उच्चरित वर्णसमूहात्मक शब्दों का उपादान

---

126. नागेश भट्ट, उद्योत, पृ० 531.
127. पतंजलि, वही
128. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1.132
129. वेदान्तदेशिक, तात्पर्यचन्द्रिका, पृ० 216
130. भर्तृहरि, वही, 1.44:

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण होता है। परन्तु ध्वन्यात्मक अर्थ में वही स्फोट प्रयोग में आता है अर्थात् क्रियावान होता है। यहाँ दोनों ही अर्थों में उपादान का तात्पर्य "जिससे अर्थ का ज्ञान हो" है— उपादीयते येनार्थः।[131] नागेश भट्ट ने कहा है कि शब्दब्रह्म रूप एक ही स्फोट शब्द और उसके अर्थ इन दोनों का उपादान कारण है। दोनों हीं शब्दब्रह्म का कार्य होने के कारण परस्पर उभयरूप हैं।[132] स्पष्ट है कि भर्तृहरि शब्द के दो रूपों को स्वीकारता है। वे रूप हैं—

(क) अव्यक्त स्फोट रूप शब्द जिसके द्वारा उच्चरित शब्द उत्पन्न होते हैं।

(ख) ध्वनि या वर्णों में व्यक्त शब्द जिसका प्रयोग अर्थबोध के लिए होता है।

दोनों रूपों में शब्द ध्वन्यात्मक बतलाया गया है। ध्वनि स्फोट को अभिव्यक्त करती है और ध्वनि सुनकर ही बुद्धि में स्थित अव्यक्त शब्दतत्त्व प्रस्फुटित होता है। तात्पर्य है कि अव्यक्त शब्दतत्त्व अर्थात् स्फोट अपनी अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि को उत्पन्न करता है। इसलिए स्फोट को ध्वनि का उपादान कारण माना गया है। ध्वनि व्यक्त शब्दों की संरचना करती है जो क्रमबद्ध वर्णसमूह के रूप में रहता है और जिससे अर्थ का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में ध्वनि ही अव्यक्त शब्द को व्यक्त रूप प्रदान कर अर्थबोध कराती है। अव्यक्त शब्द स्फोट है, उसका व्यक्तरूप शब्दार्थ है। अतः स्फोट ही शब्द का अर्थ है। ध्वनि अथवा उच्चरित शब्द श्रोता को सुनाई पड़ता है और वह बुद्धिस्थ स्फोट रूप शब्द तत्त्व को अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थ का बोध कराता है। शब्द के दोनों रूपों का आशय यही है। इस आशय से स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने ध्वनि और स्फोट के परस्पर सम्बन्ध को स्वीकार किया है। उस सम्बन्ध को निम्नलिखित तालिका द्वारा दिखलाया जा सकता है—

ध्वनि और स्फोट

ध्वनि (उच्चरित शब्द)	स्फोट (अव्यक्त शब्दतत्त्व)
(i) ध्वनि की उत्पत्ति होती है। इसका विनाश होता है। इसलिए ध्वनि अनित्य है।	(i) स्फोट ध्वनि का उपादान कारण है। यह उत्पत्ति-विनाश के परे हैं। इसलिए यह नित्य है।
(ii) अर्थबोध के लिए ध्वनि का ही प्रयोग होता है।	(ii) स्फोट स्वयं अर्थ है। अतः अर्थबोध के लिए इसका प्रयोग नहीं होता।
(iii) ध्वनि वर्णों में उच्चरित शब्द है। अतः यह सावयव होता है।	(iii) स्फोट निरवयव होता है, क्योंकि यह अव्यक्त शब्दतत्त्व है जो वर्णों के परे है।
(iv) ध्वनि व्यंजक है। यह स्फोट को अभिव्यक्त करती है। पतंजलि ने भी ध्वनि को व्यंजक माना है, जैसा कि गत पंक्तियों में बतलाया गया है।	(iv) स्फोट व्यंग्य है। इसकी अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है। पतंजलि ने भी स्फोट को व्यंग्य माना है, जैसा कि गत पंक्तियों में उल्लिखित है।

131. पुण्यराज, वाक्यपदीय की टीका, 1.44.
132. नागेश भट्ट, शक्तिनिरूपण, पृ॰ 41

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(v) ध्वनि श्रौतेन्द्रिय का विषय है, अर्थात् यह कर्णगोचर है।	(v) स्फोट बुद्धि में स्थित रहती है। यह अमूर्त्त संप्रत्यय है।
(vi) ध्वनि क्रमबद्ध वर्णसमूह है जिसमें उच्चरित शब्दों के वर्णों की संस्कार परम्परा रहती है।	(vi) संस्कार-परम्परा से ही बुद्धिस्थ स्फोट जो अखण्ड और अक्रमिक होता है, का ज्ञान होता है।
(vii) ध्वनि में उतार-चढ़ाव पाया जाता है। यह अस्थिर होती है। यह परिवर्तनशील है।	(vii) स्फोट उतार-चढ़ाव के परे हैं। यह स्थिर होता है अर्थात् अपरिवर्तन-शील है।

ध्वनि और स्फोट के उक्त अन्तर से स्पष्ट होता है कि ध्वनि और स्फोट एक-दूसरे का पूर्ण विरोधी नहीं है। दोनों के स्वरूप (संरचना और कार्य) में भिन्नता होते हुए भी दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता होती है। स्फोट की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि आवश्यक है। ध्वनि की उत्पत्ति के लिए स्फोट की अनिवार्यता है। इसे ही ध्यान में रखकर भर्तृहरि ने कहा कि ध्वनि और स्फोट तत्त्वतः (या मूलतः) अभिन्न हैं, दोनों का भेद बुद्धिभेद के कारण होता है।[133] अर्थात् ध्वनि और स्फोट का भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। पुण्यराज ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लिया है। कहा गया है कि "अरणि नामक लकड़ी में आग अप्रकटतः पहले से विद्यमान रहती है। जब लकड़ी को घिसा जाता है, तब आग प्रकट होती है। लकड़ी में रहनेवाली अप्रकट आग एक है, किन्तु प्रकट होनेवाली आग अनेक रूप धारण करती है। इसी प्रकार स्फोट एक और अव्यक्त है, परन्तु ध्वनि द्वारा व्यक्त होने पर वह अनेक रूप धारण करता है। वर्णों की क्रमबद्धता और उच्चारण की दीर्घता-ह्रस्वता के रूप में स्फोट अनेक शब्दों में व्यक्त होता है। यह अनेक रूप विवर्त्त मात्र है, जबकि अव्यक्त एक रूप स्फोट वास्तविक है।"[134] दूसरे शब्दों में स्फोट और ध्वनि में उसी तरह तादात्म्य सम्बन्ध है, जिस तरह उपनिषदों एवं वेदान्ती शंकर ने ब्रह्म और आत्मा, ब्रह्म और जगत में तादात्म्य सम्बन्ध दिखलाया है। ब्रह्म और आत्मा को अभिन्न माना गया। ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध को माया द्वारा दिखलाया गया है। माया ब्रह्म पर जगत का अध्यास दिखलाती है, जैसे रस्सी पर सांप का अध्यास होता है। अध्यास का अर्थ है जो नहीं है, उसकी प्रतीति होना। इसी प्रतीति को विवर्त्त कहा जाता है। जगत ब्रह्म का विवर्त्त मात्र है अर्थात् जगत की वास्तविकता नहीं है, वह स्वयं ब्रह्म है। इसलिए कहा गया है सर्वखलु इदम् ब्रह्मः अथवा ब्रह्मसत्यमजगन्मिथ्या। उपनिषदों एवं शंकर के इस विचार से भर्तृहरि भी सहमत है। यही कारण है कि उन्होंने शब्दब्रह्म या स्फोट को एकमात्र सत्य सत्ता माना है, ध्वनि या उच्चरित वर्णों के नानाविध रूप को स्फोट का अध्यास या विवर्त्त कहा है। गीताभाष्य में शंकर ने ब्रह्म को वेद कहा है और अक्षर को परमात्मा या ईश्वर। वेद ईश्वर का निःश्वास है। इसलिए वह अर्थप्रकाशक है।[135] यदि वेद ईश्वर का निःश्वास है, तो वह ईश्वर में ही अन्तिर्निहित है अर्थात् अक्षर और वेद एक ही है। वेद का अर्थ ज्ञान है अर्थात् ज्ञान अक्षर द्वारा अभिव्यक्त होता है और अक्षर ही अर्थ

133. भर्तृहरि, उपर्युक्त, 1.45
134. पुण्यराज, उपर्युक्त, 1.45
135. शंकराचार्य, गीताभाष्य, पृ॰ 216-17

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रदान करता है। मध्वाचार्य ने भी अपने ''गीताभाष्य'' में कहा कि ब्रह्म परमात्मा का वाचक है। अक्षर वेदों का पर्याय है। अक्षरों से ब्रह्म का ज्ञान होता है। वेद या अक्षर नित्य है। वह ब्रह्म ज्ञान का प्रमाण है।[136] ब्रह्म परमसत्ता है। ब्रह्म वही है जो अपने को अभिव्यक्त करता है। उसकी अभिव्यक्ति अक्षरों (शब्दों) में ही होती है। अतः शब्द ब्रह्म के समान नित्य है। शंकर और मध्व की तरह भर्तृहरि ने भी इसे स्वीकारा है।

भर्तृहरि ध्वनि और स्फोट के तादात्म्य सम्बन्ध को निम्नलिखित तर्कों द्वारा सिद्ध करता है—

(क) यदि ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य नहीं होता, तो जिस शब्द से जिस विशेष अर्थ का बोध होता है, उस शब्द में थोड़ा भी परिवर्तन होने पर उस विशेष अर्थ का बोध नहीं हो पाता। परन्तु यह अनुभवसिद्ध है कि ध्वनि के उतार-चढ़ाव अथवा दीर्घता-ह्रस्वता के बावजूद भी उस शब्द का वही विशेष अर्थ बना रहता है। उस अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य सम्बन्ध है।

(ख) यदि ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य नहीं होता, तो किसी भी ध्वनि या ध्वन्यात्मक वर्णसंमूह (व्यक्त शब्द) से किसी भी अर्थ का बोध हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता है, बल्कि नियत वर्णसमूह (शब्द) से नियत अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। ऐसा ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य या अभेद होने के कारण ही होता है।

इन तर्कों को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति 'गाय' शब्द का उच्चारण जिस तरह से करता है, दूसरा व्यक्ति ठीक उसी तरह से उस शब्द का उच्चारण नहीं कर पाता है। कोई उस शब्द (गाय) को जोर से उच्चरित करता है, तो कोई धीमी गति से और कोई मध्यम ध्वनि में। फिर भी 'गाय' शब्द का अर्थ 'गाय' ही होता है। विभिन्न व्यक्तियों के ध्वनिगत उच्चारण की भिन्नता से 'गाय' शब्द का अर्थ नहीं बदलता है। वह नियत ही रहता है, अर्थात् हर परिस्थिति, देश और काल में विभिन्न उच्चरित 'गाय' शब्द का अर्थ 'गाय' ही रहता है, घोड़ा, हाथी या अन्य जानवर के अर्थ में अभिहित नहीं होता है। अतः ध्वनि और स्फोट भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि द्वारा निर्धारित होता है। बुद्धि में शब्द और अर्थ परस्पर सम्बन्धित रहते हैं और यह तादात्म्य सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि ध्वनि या उच्चरित शब्द में उतार-चढ़ाव होने पर भी शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता है।[137] स्पष्ट है कि भर्तृहरि भी शब्दनित्यतावाद का समर्थन करता है। परन्तु भर्तृहरि का शब्दनित्यतावाद पतंजलि के शब्दनित्यतावाद से भिन्न है।

पतंजलि का शब्दनित्यतावाद वर्णाभिव्यक्ति को ही स्फोट की संज्ञा देता है, जबकि भर्तृहरि का शब्दनित्यतावाद वाक्य को स्फोट मानता है। वाक्य शब्दों (पदों) से बनता है और पद वर्णों से संरचित होता है। फिर भी वाक्य का अर्थ या स्फोट शब्द या वर्ण नहीं है। भर्तृहरि ने व्यक्त शब्द का तात्पर्य वाक्य से ही लिया है। वाक्य (उच्चरित ध्वन्यात्मक पदसमूह) में स्फोट उसी प्रकार निहित रहता है, जिस प्रकार मुर्गी के गर्भ में उसका अण्डा।

---

136. मध्वाचार्य, गीताभाष्य, पृ॰ 218-21

137. भर्तृहरि, उपर्युक्त, 1.47.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गर्भस्थ अण्डा निरवयव, निराकार और अक्रमित होता है। स्फोट या शब्दतत्त्व भी ब्रह्माण्ड में निरवयव, निराकार और अक्रमिक रूप से विद्यमान रहता है। यह अखण्ड होता है। मानव-बुद्धि में यह अखण्ड और व्यापक स्फोट सदैव रहता है। जब यह अखण्ड स्फोट क्रियावान होता है, तो वह वर्ण, पद और वाक्य के रूप में व्यक्त होकर खंडित हो जाता है। खंडित स्फोट ही ध्वनि रूप में उच्चरित होता है। अतः स्फोट मूलतः अखण्ड है, पर व्यवहार रूप में सखण्ड स्फोट ही अर्थ-बोध कराता है। यही कारण है कि भर्तृहरि ने सखण्ड स्फोट को अखण्ड स्फोट का अध्यास माना है। कहा गया है कि शब्द (स्फोट) तत्त्वतः एक है, पर बाहर से उसके अर्थ और स्वरूप की अलग-अलग प्रतीति होती है।[138] यही अध्यास या विवर्त्त है। इस प्रकार भर्तृहरि का शब्दनित्यतावाद शब्दाध्यासवाद या शब्दविवर्त्तवाद कहलाता है। भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म की भी संज्ञा दी है। अतएव भर्तृहरि का शब्दनित्यतावाद शब्दब्रह्मवाद के नाम से भी जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि भर्तृहरि के स्फोटवाद के तीन रूप हैं— शब्दनित्यतावाद, शब्दब्रह्मवाद तथा शब्दाध्यासवाद (शब्दविवर्त्तवाद)। पतंजलि ने केवल प्रथम स्वरूप को ही स्वीकारा है।

भर्तृहरि के अनुसार स्फोट एक, निरवयव और अक्रम (क्रमरहित) है। उसे व्यक्त करनेवाली ध्वनियाँ अनेक, सावयव और क्रमंयुक्त हैं। ये ध्वनियाँ ही अर्थबोध के लिए प्रयुक्त होती हैं। यही कारण है कि स्फोट के भी अनेक रूप और क्रम आभासित होते हैं। यह आभास या प्रतीति उसी प्रकार का है जिस प्रकार नदी की बहती जलधारा में चन्द्रमा के अनेक रूप का आभास होता है, परन्तु चन्द्रमा वस्तुतः एक है। जलधारा में दीखनेवाला चन्द्रमा वास्तविक नहीं हैं, बल्कि वे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इसी तरह ध्वनियों से उत्पन्न अर्थ की अनेकता भी एक निरवयव और अखण्ड स्फोट का प्रतिबिम्ब या अध्यास मात्र है। वस्तुतः स्फोट या शब्दार्थ एक ही होता है। विभिन्न अर्थों का बोध करानेवाला अनेक व्यक्त ध्वनि-समूह स्फोट की अनेकता सिद्ध नहीं कर पाता है।[139] स्फोट न केवल अखण्ड, निरवयव और अक्रम है, बल्कि वह स्वयं को प्रकाशित करते हुए शब्दार्थ का भी बोध कराती है। उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता हुआ ज्ञेय वस्तु को भी प्रकाशित करता है।[140] अर्थात् स्फोट स्वप्रकाशक होता है। किन्तु स्फोट स्वप्रकाशक होते हुए भी वह ध्वनि द्वारा व्यक्त होता है।

स्फोट सम्बन्धी समस्याएँ

इस संदर्भ में भर्तृहरि ने कतिपय समस्याओं का उल्लेख किया है। वे समस्याएँ हैं—

(i) ध्वनि से स्फोट की उत्पत्ति कैसे होती है?

(ii) क्या ध्वनि श्रौतेन्द्रिय को प्रभावित करती है?

(iii) क्या ध्वनि और स्फोट का ज्ञान भिन्न है?

(iv) उतार-चढ़ाव वाली ध्वनियाँ परस्पर कैसे सम्बन्धित होती हैं?

पहली समस्या का उत्तर ऊपर की पंक्तियों में निहित है। ध्वनि से स्फोट की उत्पत्ति उच्चरित वर्णों के क्रमानुसार होती है। ''गाय लाओ'' वाक्य में प्रयुक्त वर्णों का उच्चारण क्रमशः ग् + अ् + आ + य् + अ् + ल् + अ् + आ + ओ वर्णों के रूप में होता है। ज्यों-

138. वही, 1.52
139. वही, 1.49
140. वही, 1.50

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्यों ध्वनि रूप में वर्णों का उच्चारण होता जाता है, त्यों-त्यों स्फोट अभिव्यक्त होता जाता है। अन्तिम वर्ण (ओ) के उच्चारण के पश्चात् इस वाक्य (गाय लाओ) का पूर्णरूपेण और निश्चित अर्थ अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति वर्णों और पदों की ध्वनियों द्वारा उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार दूध धीरे-धीरे दही बनता है, बीज पौधा बनता है और मुर्गी के अण्डों में निहित रंग धीरे-धीरे बदलता जाता है। स्फोट की अभिव्यक्ति भी ध्वनि द्वारा शनैः शनैः क्रमिक रूप में होता है। इसलिए ध्वनि को स्फोट की अभिव्यंजना कहते हैं। अतएव परिवर्तन या अभिव्यक्ति स्फोट की नहीं होती, वरन् स्फोटाभिव्यंजना की होती है।

दूसरी और तीसरी समस्याओं का उत्तर तीन दृष्टिकोणों से दिया गया है। दूसरी समस्या के उत्तर हैं कि ध्वनि श्रौतेन्द्रिय को प्रभावित करती है। ध्वनि श्रौतेन्द्रिय का संस्कार करती हुई शब्द को व्यक्त करती है। जब उच्चरित शब्द या ध्वनि कान में पड़ती है, तो कान का संस्कार होता है और बुद्धिस्थ नित्य शब्दतत्त्व की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि उसी प्रकार की है, जिस प्रकार आंखों पर लगा चश्मा किसी वस्तु को स्पष्ट करके दिखलाता है। चश्मा आंख का संस्कार करता है और वस्तुओं का स्पष्ट ज्ञान देता है।

इस समस्या का दूसरा उत्तर है कि ध्वनि श्रौतेन्द्रिय को प्रभावित नहीं करती है, वरन् शब्द को ही प्रभावित करती है। जिस प्रकार गर्म धरती पर जल का छींटा देने से धरती की सौंधी-सौंधी गन्ध आती है, उसी प्रकार ध्वनि से शब्द का संस्कार होता है। दूसरे शब्दों में, जल छिड़कने से स्वयं जल प्रभावित नहीं होता है। वह तो धरती को प्रभावित करनेवाला साधन मात्र है। इसी तरह ध्वनि भी शब्दतत्त्व को व्यक्त करनेवाला साधन है। अर्थात् ध्वनि श्रौतेन्द्रिय को प्रभावित नहीं करती है।

इस समस्या का तीसरा उत्तर है कि ध्वनि श्रौतेन्द्रिय और शब्द दोनों को प्रभावित करती है। जिस प्रकार प्रकाश की सहायता से आँखें दीवाल आदि वस्तुओं का प्रत्यक्ष करती हैं, उसी प्रकार ध्वनि द्वारा कान और शब्द दोनों प्रभावित होते हैं। यदि केवल कान का संस्कार माना जाय, तो एक बार कान का संस्कार हो जाने पर उच्चरित अनुच्चरित सभी शब्दों का ग्रहण होना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता है। यदि केवल शब्द का संस्कार माना जाय, तो कदापि शब्द-ग्रहण नहीं हो सकता। यदि गर्म धरती पर जल-छिड़काव नहीं हो, तो धरती की सौंधी-सौंधी गन्ध उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव ध्वनि केवल शब्द को प्रभावित नहीं करती है। अतः यह विचार—ध्वनि द्वारा श्रौतेन्द्रिय और शब्द दोनों प्रभावित होते हैं— संगत प्रतीत होता है। इस विचार के अनुसार ध्वनि द्वारा उच्चरित शब्द का संस्कार होता है और उस संस्कृत शब्द के कान में पड़ने से नित्य शब्द (स्फोट) की उपलब्धि होती है। जिस प्रकार प्रकाश से संस्कृत दृष्टि अन्धकार में रहनेवाली वस्तुओं को नहीं देख पाती है, उसी प्रकार संस्कृत कान उन्हीं शब्दों को ग्रहण कर पाता है, जिनका संस्कार ध्वनियों से होता है।

तीसरी समस्या का उत्तर देते हुए कहा गया है कि ध्वनि और स्फोट अभेद हैं, इसलिए उनका ज्ञान एक साथ ही होता है अर्थात् दोनों का ज्ञान अभिन्न और तादात्म्य है। जब हम प्रकाश में घट को देखते हैं, तो हमें एक साथ ही प्रकाश और घट दोनों का ज्ञान होता है अर्थात् दोनों का ज्ञान अलग-अलग नहीं, बल्कि एक है। वह अभिन्न है। फिर भी, प्रकाश का कारण दीपक हैं और घट का कारण मिट्टी या कोई धातु। इसी प्रकार ध्वनि का कारण वागेन्द्रिय (कंठ और तालु) है, तो स्फोट का कोई कारण नहीं है क्योंकि वह अकार्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। ध्वनि कार्य है। प्रकाश और घट के अलग-अलग कारण हैं, परन्तु उनका बोध एक साथ ही होता है। ध्वनि और स्फोट क्रमशः कार्य और अकार्य हैं, फिर भी उनमें एकत्व है। उनका ज्ञान एक साथ अभिन्न और तादात्म्य रूप में होता है।

इस उत्तर से दूसरी समस्या उत्पन्न होती है। ध्वनि का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से होता है। कहा गया है कि जिस प्रकार आंखों का प्रत्यक्ष नहीं होता है बल्कि प्रत्यक्ष वस्तुओं के आधार पर आंखों का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार ध्वनि का प्रत्यक्ष नहीं होता है वरन् अनुमान से उसका ज्ञान होता है। ध्वनि को अनिवार्य पूर्वमान्यता या अर्थापत्ति मानी गयी है। जिस प्रकार वस्तुओं को देखने के लिए आँखों का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार स्फोट की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि का होना अनिवार्य है। इसी आधार पर ध्वनि को अनुमानजन्य या अन्यतरानुपपत्ति (अर्थापत्ति) कहा गया है। यह तीसरी समस्या का दूसरा उत्तर है।

तीसरी समस्या के उक्त दोनों उत्तरों को संतोषजनक नहीं माना जा सकता। इसलिए इस समस्या का तीसरा उत्तर दिया गया है। कहा गया है कि ध्वनि स्वतंत्र होती है। जब शब्द व्यक्त होता है, तो स्फोट और ध्वनि का ज्ञान साथ-साथ पाया जाता है! जब शब्द अव्यक्त होता है, तो ध्वनि अकेला ही स्फोट को प्रकाशित करती है। दूसरे शब्दों में, उच्चरित शब्दों, जो वर्णसमूहात्मक है, का ज्ञान वस्तुतः ध्वनि और स्फोट का अभिन्न ज्ञान है। किन्तु जब शब्द अव्यक्त रहता है और ध्वनि से क्रमशः उसकी अभिव्यक्ति होती है, तो यहाँ ध्वनि का ज्ञान स्वतंत्र होता है। जिस प्रकार अकेला दीपक किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकता है, बल्कि किसी स्थानविशेष और कालविशेष में ही वह वस्तु को प्रकाशवान बनाता है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न ध्वनियाँ अलग-अलग स्थानों और अलग-अलग समयों में स्फोट को प्रकाशित करती हैं। इस दृष्टिकोण से ही ध्वनि को स्वतंत्र माना गया है। अर्थात् ध्वनि और स्फोट का ज्ञान न तो अभिन्न है और न भिन्न। यह ज्ञान परिस्थितिविशेष में अभिन्न और भिन्न दोनों हो सकता है। व्यक्त रूप में ध्वनि और स्फोट का ज्ञान भिन्न है, अव्यक्त रूप में यह अभिन्न है।

चौथी समस्या का उत्तर देते हुए कहा गया है कि यद्यपि ध्वनियों में उतार-चढ़ाव है, परन्तु ये ध्वनियाँ उसी तरह एक साथ गूंथी रहती हैं जिस तरह मोती की माला में प्रत्येक मोती एक दूसरे के साथ गूंथा रहता है। सभी मोती एक धागा की सहायता से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। ध्वनियाँ (उच्चरित वर्णसमूह) भिन्न-भिन्न होती हैं, लेकिन वे स्मृतिरूपी धागा की सहायता से परस्पर गूंथी होती हैं। वर्णों के उच्चारण से संस्कार बनता है, जो हमारी स्मृति में क्रमशः स्थित हो जाता है और अन्तिम वर्णोच्चारण द्वारा स्फोट अभिव्यक्त होता है। "गाय लाओ" के उदाहरण में बतलाया गया कि प्रत्येक वर्ण का उच्चारण क्रमशः होता जाता है। ग् का उच्चारण करने के पश्चात् अ् का उच्चारण होता है। अ् की ध्वनि उच्चरित होते ही ग् की ध्वनि हमारी स्मृति में चली आती है। इसी प्रकार आ, य्, अ्, ल्, अ्, ओ की ध्वनियाँ उच्चरित होते ही एक-एक कर हमारी स्मृति में आती है। जब अंतिम वर्ण ओ स्मृति में आती है, तो हमारी स्मृति सभी वर्णों को गुम्फित करती है और अर्थ (स्फोट) को अभिव्यक्त करने में सहायक होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्वनि के प्रकार

उपर्युक्त विवेचन से एक बात तय है कि ध्वनि और स्फोट तत्त्वतः एक है, फिर भी ध्वनि और स्फोट् में व्यवहारतः भिन्नता है। अभिन्न रूप में जो स्फोट या ध्वनि है, उसे प्राकृत ध्वनि कहा जाता है। व्यवहारतः ध्वनि वैकृत कहलाती है। अतः भर्तृहरि के अनुसार ध्वनि दो प्रकार की होती है— प्राकृत और वैकृत ध्वनि। प्राकृत ध्वनि नित्य होती है, जबकि वैकृत ध्वनि परिवर्तनशील है। अतः स्फोट की अभिव्यक्ति मूलतः प्राकृत ध्वनि से ही होती है। इसे वास्तविक शब्दग्रहण हेतु कहा गया है।[141] वैकृत ध्वनि में वृत्ति भेद पाया जाता है। यह भेद वर्णोच्चारण करने के ढंग के कारण होता है। विभिन्न परिस्थितियों, देशों और कालों में इसकी दीर्घता-ह्रस्वता भिन्न-भिन्न होती है। यह व्यक्तिविशेष पर निर्भर करती है। अतः वैकृत ध्वनि वैयक्तिक होती है, जबकि प्राकृत ध्वनि वस्तुगत होती है।

वस्तुतः वैकृत ध्वनि प्राकृत ध्वनि का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार चांद का प्रतिबिम्ब नदी की जलधारा में पड़ता है और चांद दो दीखने लगता है, उसी प्रकार प्राकृत ध्वनि ही वास्तविक या मूल है जिसे "बिम्ब" कहा जाता है, जबकि वैकृत ध्वनि मूल ध्वनि का प्रतिबिम्ब होने से जलधारा के चांद के समान सत्य नहीं है। यद्यपि जलचांद जल की तरंगों के कारण एक समान नहीं दीखता, बल्कि अनेक रूप में दीखता है, फिर भी वास्तविक चांद तो एक ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं होता। वैकृत ध्वनि वृत्तिभेद के कारण दीर्घ-ह्रस्व, तीव्र या धीमी आवाज में रहती है, फिर भी स्फोटतत्त्व अर्थात् प्राकृत ध्वनि या शब्दार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। वह एक और केवल एक होती है। प्राकृत ध्वनि वैकृत ध्वनि से उसी प्रकार अप्रभावित रहती है, जिस प्रकार एक घट विभिन्न रोशनियों में घट ही रहता है। रोशनी चाहे मंद हो या चकाचौंध, घट में परिवर्तन नहीं होता। तात्पर्य है कि प्राकृत ध्वनि नित्य और एक है। वही स्फोट है। वह देश और काल की सीमा के परे है। इसलिए उसे दिक्कालातीत कहा गया है। परन्तु वैकृत ध्वनि देश और काल की सीमा में बंधा है। यह उत्पत्ति-विनाश से युक्त है। ढोल पर थाप दी जाती है, तो ध्वनि उत्पन्न होती है और जब थाप देना बन्द हो जाता है, तो ध्वनि बन्द हो जाती है। यह ध्वनि क्षण भर के लिए होती है। अतः वैकृत ध्वनि क्षणिक होती है। वह परिवर्तनशील और अस्थायी है। वैकृत ध्वनि द्वारा वर्ण, पद आदि रूपों में प्राकृत ध्वनि अभिव्यक्त होती है। प्राकृत ध्वनि एक होने से अखण्ड है, जबकि वैकृत ध्वनि अनेक होने से विभाज्य या सखण्ड है। वास्तव में वैकृत ध्वनि और प्राकृत ध्वनि का अन्तर ध्वनि और स्फोट का ही अन्तर है।

स्फोट का वर्गीकरण

नागेश भट्ट ने आठ प्रकार के स्फोट का उल्लेख किया है। भट्टोजि दीक्षित भी मानते हैं कि स्फोट आठ प्रकार के हैं, जिनमें पांच व्यक्ति स्फोट की श्रेणी में आते हैं और तीन जाति स्फोट की श्रेणी में। अतएव मूल रूप से स्फोट के दो ही प्रकार हैं— व्यक्ति और जाति। व्यक्ति स्फोट के पांच उपभेद हैं— वर्ण स्फोट, पद स्फोट, वाक्य स्फोट, अखण्ड पद स्फोट, अखण्ड वाक्य स्फोट। जाति स्फोट के तीन उपभेद हैं— वर्णजाति स्फोट, पदजाति स्फोट, वाक्य जाति स्फोट।[142] किन्तु नागेश ने व्यक्ति स्फोट का दो उपभेद माना

141. वही, 1.75
142. भट्टोजि दीक्षित, शब्दकौस्तुभ, पृ॰ 12

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है— सखण्ड स्फोट और अखण्ड स्फोट। सखण्ड स्फोट के तीन (वर्ण, पद, वाक्य) और अखण्ड स्फोट के दो (पद और वाक्य) उपभेद किये गये हैं। स्फोट का वर्गीकरण चाहे नागेश का हो या भट्टोजि का, कुल आठ हीं स्फोट की सूची पायी जाती है— वर्ण, पद, वाक्य, वर्णजाति, पदजाति, वाक्यजाति, अखण्ड पद, अखण्ड वाक्य। इन्हें एक तालिका द्वारा दिखलाया जा सकता है।

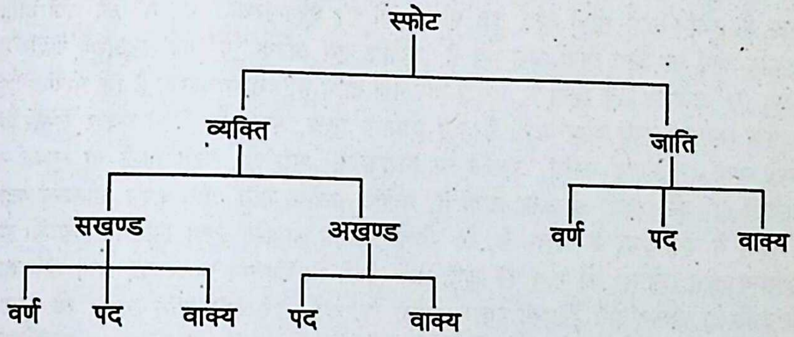

व्यक्तिस्फोट तथा जातिस्फोट—मीमांसकों का मानना है कि वर्ण ही किसी शब्द के अर्थ को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। शब्द और वाक्य वर्णों से संरचित होते हैं। जैसे— वृक्ष पर कपि है। इस वाक्य में वृक्ष, पर, कपि, है शब्द पाये जाते हैं। ये शब्द क्रमशः व् + ऋ + क्ष् + अ, प् + अ + र् + अ, क् + अ + इ + प् + अ, ह् + ऐ वर्णों से निर्मित हैं। ये वर्ण एक-एक कर उच्चरित होते हैं और अन्तिम वर्ण के उच्चारण के पश्चात् इस वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। इसलिए स्फोट वर्ण में ही निहित रहता है। अर्थात् वर्ण ही शब्द या स्फोट है। चूँकि वर्ण पूर्वापर क्रम में होते हैं। अतः क्रमबद्ध होकर ही वर्ण अर्थ प्रदान करते हैं। इस विचार को **वर्णस्फोटवाद** कहा जाता है। शालिकनाथ मिश्र ने अपनी पुस्तक "प्रकरणपंचिका" में कहा है कि शब्द ही वर्ण है जो श्रौतेन्द्रिय द्वारा सुना जाता है। वर्ण ही शब्दों और वाक्यों के अर्थ का आधार होता है, अर्थात् वही स्फोट है। परन्तु एक समस्या है— वर्णस्फोट को व्यक्तिस्फोट की श्रेणी में रखा जाय या जातिस्फोट की श्रेणी में।

मीमांसकों के अनुसार वर्णस्फोट व्यक्तिस्फोट है। इसलिए मीमांसकों का विचार वर्ण व्यक्ति स्फोटवाद कहलाता है। इस विचार के अनुसार वर्ण नित्य होता है, वह मात्र एक होता है। उदाहरण के लिए 'ग' वर्ण का उच्चारण एक से अधिक व्यक्ति करता है। एक या अनेक व्यक्ति इस वर्ण का उच्चारण एक से अधिक समय में करता है। अलग-अलग स्थानों— कालों, अलग-अलग ध्वनि-तरंगों द्वारा इस वर्ण का उच्चारण किया जाता है। फिर भी 'ग' में परिवर्तन नहीं होता है। 'ग' सदैव 'ग' रहता है और उसका अर्थ भी वही रहता है अर्थात् 'ग' के अर्थ में भी परिवर्तन नहीं होता है। 'ग' सदैव एक और नित्य होता है। यही स्थिति प्रत्येक स्वर और व्यंजन वर्ण के साथ है। तात्पर्य यह है कि वर्णस्फोट "व्यक्ति" की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। ध्वनि के उतार-चढ़ाव और 'ग' का पचीस बार उच्चारण करने के बावजूद भी 'ग' का पचीस अर्थ नहीं होता है, वरन् उसका एक ही अर्थ होता है। पचीस बार उच्चारण करने से 'ग' पचीस नहीं हो जाता, बल्कि एक ही रहता है। इसलिए उसे वर्णव्यक्तिस्फोट कहा जाता है जो शब्द (स्फोट) को नित्य मानता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः मीमांसकों का स्फोटवाद शब्दनित्यतावाद को वर्णव्यक्तिस्फोटवाद की संज्ञा देता है।

परन्तु नैयायिकों की मान्यता है कि वर्णस्फोट जातिस्फोट है, व्यक्तिस्फोट नहीं। उनके अनुसार 'ग' वर्ण का उच्चारण एक ही व्यक्ति अलग-अलग समय में करता है। अलग-अलग स्थानों, परिस्थितियों, ध्वनि-तरंगों द्वारा किया जाता है। एक ही समय और स्थान में अनेक व्यक्ति 'ग' का उच्चारण करते हैं। उनके उच्चारण करने का तरीका अलग-अलग होता है। ध्वनि-तरंगें धीमी और द्रुत हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में 'ग' को वर्णव्यक्ति मानकर अर्थ का बोध होना असम्भव है, क्योंकि हम अनेक 'ग' का उच्चारण करते हैं। परन्तु 'ग' वर्ण 'ग' ही रहता है, दूसरा वर्ण नहीं होता है। इसका कारण है कि प्रत्येक 'ग' में एक सामान्य तत्त्व पाया जाता है। वह सामान्य तत्त्व 'गत्व' है। जिस प्रकार संसार की सभी गायों, चाहे वह काली, उजली या चितकबरी, भूरी हो, चाहे नाटी या लम्बी या मझोली हो, को 'गायें' ही कहा जाता है, क्योंकि प्रत्येक गाय, जो अपने आकार-प्रकार, रंग-रूप में एक-दूसरे से अलग हैं, में 'गोत्व' नामक सामान्य तत्त्व निहित रहता है। इस सामान्य तत्त्व (गोत्व) को गाय की जाति कही जाती है। विभिन्न प्रकार की सभी गायें एक ही जाति के सदस्य होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक 'ग' वर्ण भी अपनी जाति 'गत्व' का सदस्य है। जितने भी स्वर और व्यंजन वर्ण हैं, वे सभी अपनी-अपनी जाति के सदस्य होते हैं। जैसे— 'क' की जाति 'कत्व', 'प' की जाति 'पत्व', 'अ' की जाति 'अत्व' इत्यादि। अतएव नैयायिकों का मानना है कि वर्णस्फोट को 'व्यक्ति' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वह 'जाति' मात्र है। इस विचार को **वर्णजातिस्फोटवाद** कहा जाता है। अनेक 'ग', 'क' या 'अ' को एक ही जाति 'गत्व', 'कत्व' या 'अत्व' में समाविष्ट करना ''लाघव न्याय'' कहलाता है।

व्यक्ति और जाति स्फोट के अन्तर्गत पदस्फोट और वाक्यस्फोट भी आते हैं। अतएव पद और वाक्य को व्यक्ति की श्रेणी में रखा जाय या जाति की श्रेणी में— यह समस्या भी है। इस समस्या का भी समाधान उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार वर्णस्फोट को ''व्यक्ति'' या ''जाति'' की श्रेणी में रखने की समस्या का समाधान हुआ है। मीमांसकों के अनुसार पद और वाक्य मूलतः वर्णों से ही बनते हैं। पद वर्णसमुदाय है और वाक्य पदसमुदाय। अतः वाक्य भी एक प्रकार से वर्णसमुदाय ही है। अर्थात् वाक्य का आधार वर्ण ही है। अतएव पद और वाक्य के अर्थ की अभिव्यंजना वर्णों द्वारा ही होती है। चूँकि वर्ण एक और नित्य है, इसलिए वर्णों से निर्मित पद और वाक्य भी एक और नित्य है। ''गाय चरती है'' वाक्य का उच्चारण अनेक व्यक्ति करते हैं। यह उच्चारण एक ही समय में अलग-अलग जगहों पर एक या अनेक व्यक्ति द्वारा किया जाता है। उनके उच्चारण में भिन्नता रहती है। फिर भी 'गाय' पद एक ही होता है। उसके अर्थ में परिवर्तन नहीं होता है। इसी प्रकार ''चरती है'' पद का अर्थ भी एक और अपरिवर्त्तनशील होता है। दोनों पदों का उच्चारण साथ-साथ होने पर वाक्य बनता है और ''गाय चरती है'' वाक्य का अर्थ भी अपरिवर्तनशील होने से एक ही है। इस दृष्टिकोण से पदस्फोट और वाक्यस्फोट दोनों को व्यक्तिस्फोट की संज्ञा दी जाती है। यह विचार वस्तुतः **पदव्यक्तिस्फोटवाद** और **वाक्यव्यक्तिस्फोटवाद** कहलाता है।

वस्तुतः व्यक्तिस्फोटवाद के तीनों रूप वर्ण, पद और वाक्य स्फोट भिन्न-भिन्न नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। ये वर्णस्फोट के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। सभी स्वर और व्यंजन वर्ण (अ से अः, ऋ, लृ तक और क से ह तक) अर्थवान होते हैं। यदि प्रत्येक वर्ण सार्थक नहीं होता, तो इन वर्णों से बने पद और पदों से बने वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता। यही कारण है कि वर्णवादी या व्यक्तिवादी वर्ण को ही मूलरूप में स्फोट का आधार मानता है, अर्थात् वर्णस्फोटवाद ही मौलिक है। इस बात की पुष्टि उपनिषदों से भी होती है। माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि 'ओम्' पद अ, उ और म् वर्णों से बना है। अ का अर्थ आप्ति या आदिमत्ता है, उ का अर्थ उत्कर्ष या उभयत्व है और म् का अर्थ मिति या अपीति है।[143] अन्यत्र कहा गया है— कं ब्रह्म खं ब्रह्म अर्थात् क और ख दोनों का अर्थ ब्रह्म है। तंत्रशास्त्र में इ का अर्थ शक्ति से लिया गया है। यदि 'शिव' पद में 'ि' (इ) निकाल दिया जाय, तो शिव शव (शक्तिविहीन) बन जाता है।[144] तात्पर्य यह है कि वर्ण ही पद और वाक्य को अर्थवान बनाता है। हठयोग में भी कहा गया है कि ह का अर्थ सूर्य है और ठ का अर्थ चन्द्रमा है।[145] तात्पर्य यह है कि वर्णस्फोट ही मूल है। वर्णों से ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है— इसका प्रमाण श्रुतियों में भी उपलब्ध है।

कुमारिल ने भी माना है कि वर्ण ही अर्थ प्रदान करता है। किन्तु वर्ण व्यक्ति रूप में अर्थ प्रदान नहीं करता है, बल्कि जाति रूप में अर्थबोधक है। यदि कोई कहता है कि "मैं उसी दवा को ले रहा हूँ जिसे तुमने गत वर्ष लिया था", तो इस वाक्य का अर्थ "उसी दवा" पद पर निर्भर करता है। "उसी दवा" को यदि व्यक्ति रूप में स्वीकारा जाय, तो इसका अर्थ अलग-अलग होगा— गत वर्ष लेनेवाली दवा और आज लेनेवाली दवा। किन्तु 'उसी' पद का अर्थ 'समानता' से है अर्थात् एक ही प्रकार की दवा। यदि दवा एक ही प्रकार की है, तो वह व्यक्ति रूप में नहीं हो सकती। एक ही प्रकार की दवा की एक ही 'जाति' होगी, उस दवा का सामान्य तत्त्व एक ही होगा। अतएव सम्पूर्ण वाक्यं का अर्थ भी एक सामान्य तत्त्व या जाति द्वारा ही अभिहित होता है। अतएव जाति द्वारा अभिहित अर्थ होने के कारण पदस्फोट और वाक्यस्फोट को क्रमशः **पदजातिस्फोट** और **वाक्य जातिस्फोट** कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि स्फोट चाहे व्यक्ति हो या जाति, मूल स्फोट तीन ही हैं— वर्ण, पद और वाक्य। अतएव व्याकरण दर्शन में साधारणतः इन तीन स्फोटों की ही चर्चा होती है। वर्णस्फोट और पदस्फोट के अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में दिखलाया जा सकता है।

वर्णस्फोट तथा पदस्फोट—ऊपर की पंक्तियों में बतलाया गया है कि वर्ण ही अर्थबोधक है। अकेला एक वर्ण अर्थ प्रदान करने में सक्षम है, यह प्रमाण श्रुतियों से मिलता है। परन्तु व्यवहार में ऐसे वर्ण पाये जाते हैं जो अकेला अर्थ प्रदान करने में असमर्थ है। घ और ट अलग-अलग वर्ण हैं। जबतक ये परस्पर नहीं मिलते हैं, तबतक ये अर्थ प्रदान नहीं कर पाते हैं, यद्यपि ये अर्थवान हैं। जब दोनों वर्ण एक साथ मिलकर 'घट' शब्द बनाते हैं, तो इस शब्द का अर्थबोध होता है। यदि इन वर्णों में अर्थ प्रदान करने की क्षमता नहीं होती, 'घट' शब्द का अर्थबोध भी नहीं होता। अतएव वर्णों में ही वह क्षमता है जो किसी

143. माण्डूक्योपनिषद्, 9-11
144. डॉ॰ विजयपाल शास्त्री, उपर्युक्त, पृ॰ 89
145. वही,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद या वाक्य को अर्थवान बनाती है। प्रश्न है कि जब वाक्य या पद का उच्चारण होता है, तो पहले एक वर्ण, फिर दूसरा, तीसरा ...... आदि वर्ण उच्चरित होते हैं। जब दूसरा वर्ण उच्चरित होता है, तो पहला वर्ण नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में वर्ण से अर्थ की अभिव्यक्ति होना असम्भव है। परन्तु वर्णस्फोटवाद की मान्यता है कि वस्तुतः पूर्व पूर्व उच्चरित वर्ण हमारी स्मृति में आ जाती है और जब अन्तिम वर्ण उच्चरित होकर स्मृति में पहुंचती है तो सभी उच्चरित स्मृतिस्थ वर्ण परस्पर मिलकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् स्मृतिजन्य वर्ण-संस्कार-परम्परा से अर्थ का बोध होता है।

यदि वर्ण ही अर्थाभिव्यक्ति का माध्यम है और शब्द वर्णों का ही समुच्चय मात्र है, तो समान वर्ण से संरचित शब्दों का अर्थ भी एक होना चाहिए। परन्तु व्यवहार में हम पाते हैं कि उनके अर्थ अलग-अलग होते हैं। जैसे— पिक, कपि, सर, रस आदि। पिक का अर्थ कोयल है, तो कपि का अर्थ बन्दर है। सर का अर्थ तालाब है, तो रस का अर्थ जूस आदि है। इस समस्या का उत्तर देते हुए कहा गया है कि समान वर्णों से निर्मित शब्दों का अलग-अलग अर्थ वर्णों की क्रमव्यवस्था के कारण होता है। सर और रस में अलग-अलग क्रमव्यवस्था है। सर में पहले स और फिर र आता है, जबकि रस में पहले र और फिर स आता है। इसी तरह पिक और कपि की वर्ण क्रमव्यवस्था क्रमशः प + इ + क और क + इ + प है। इस प्रकार वर्णस्फोटवादी शब्द की अवयवशक्ति को ही स्फोट का आधार मानते हैं। वर्ण शब्द के अवयव हैं। अवयवशक्ति अर्थात् वर्णों को ही अर्थाभिव्यक्ति मानने के कारण वर्ण स्फोटवाद **सावयवस्फोटवाद** भी कहलाता है। परन्तु पदस्फोटवादी वर्णों को अर्थाभिव्यक्ति की संज्ञा नहीं देते।

पदस्फोटवाद भी स्वीकारता है कि वाक्य की रचना पदों से होती है और पदों की रचना वर्णों से तथा अर्थाभिव्यक्ति वर्ण क्रमव्यवस्था पर आधारित होती है। परन्तु अर्थ वर्णों की अवयवशक्ति से नहीं, वरन् समुदायशक्ति से निःसृत होता है। घट, रस, पिक आदि शब्दों में निहित शक्ति ही अर्थ प्रदान करती है। जब इन शब्दों का क्रमबद्ध उच्चारण होता है, तो इनके अवयव घ, ट, र, स, प, इ, क अलग-अलग उच्चरित होकर स्मृति में जाते हैं। किन्तु स्मृति में ये स्वतः परस्पर सम्बद्ध नहीं हो पाते। हमारी बुद्धि उन्हें सम्बद्ध करती है और बुद्धि उन्हें तभी सम्बद्ध कर सकती है जब उनमें समुदायशक्ति हो। अतएव अर्थ का आधार वर्णों की समुदायशक्ति अर्थात् शब्दशक्ति है। पद या शब्द से ही अर्थ अभिव्यक्त होता है। जिस तरह किसी हाथी को बाँधने के लिए रस्सी की जरूरत होती है, रस्सी के अवयव पुआल की नहीं। जिन पुआलों से रस्सी बनती है, उन पुआलों में एक-एक पुआल लेकर हाथी को बाँधना असम्भव है। हाथी बाँधने के लिए पुआलों से बनी एक रस्सी ही आवश्यक है। इसी प्रकार वर्णों की अवयवशक्ति अर्थ प्रदान करने में सक्षम नहीं है, वरन् उसकी समुदायशक्ति अर्थ प्रदान करने का सामर्थ्य रखती है। पानी घट में भरा जाता है, न कि उसके अवयव मिट्टी में। स्पष्ट है कि पदस्फोटवाद पद को ही अर्थशक्ति या स्फोट मानता है।

सखण्ड और अखण्ड स्फोट—व्यक्तिस्फोट के दो रूप माने गये हैं— सखण्ड और अखण्ड। सखण्ड स्फोट वह है जिसके अवयव होते हैं और वे अवयव वर्ण, पद तथा वाक्य के रूप में होते हैं। जिन वाक्यों का हम अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करते हैं, वे वाक्य पदों से बनते हैं और पद वर्णों से। उदाहरण के लिए ''घट लाओ'' वाक्य में घ,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ट तथा ल, आ, ओ वर्ण एक साथ जुड़े हैं जिनसे 'घट' पद और 'लाओ' पद बने हैं। घट पद संज्ञावाचक है, तो लाओ क्रियावाचक पद है। इस प्रकार इस वाक्य के कम-से-कम दो अवयव हैं— घट (वह वस्तु जिसे लाना है) और लाओ (वह क्रिया जिसके द्वारा वस्तु लायी जाती है)। 'घट' शब्द में 'अम्' प्रत्यय लगने से 'घटम्' शब्द बनता है। इसी प्रकार 'आनय' शब्द में 'अ' उपसर्ग के साथ 'नि' धातु लगा रहता है। अतः घटम् आनय (घट लाओ) के दोनों पद धातु और विभक्ति (उपसर्ग तथा प्रत्यय) के मेल से बनते हैं। अतः पद के अवयव धातु और विभक्ति हैं। इस प्रकार व्यवहार में हम जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं, वे सावयव होते हैं। अतः इन वाक्यों के अर्थ या स्फोट सखण्ड कहलाते हैं। इनके अवयवों के अर्थों द्वारा वाक्य का अर्थबोध हो पाता है। इसी दृष्टि से वर्ण, पद और वाक्य के रूप में सखण्ड स्फोट का विभाजन किया जाता है। वस्तुतः सखण्ड स्फोट बाह्य होता है। यह व्यावहारिक स्फोट है। यही कारण है कि भर्तृहरि ने इस स्फोट को वास्तविक नहीं माना है। वास्तविक स्फोट अखण्ड स्फोट है।

अखण्ड स्फोट को आन्तरिक कहा जाता है। यह अवयवहीन (निरवयव) होता है। यह मात्र एक और पूर्ण होता है। फिर भी, अखण्ड स्फोट को पद और वाक्य में वर्गीकृत किया गया है। भर्तृहरि के अनुसार यह वर्गीकरण कृत्रिम मात्र है। यह केवल अपनी सुविधा या समझने के लिए किया जाता है। वास्तविक स्फोट उसी प्रकार एक और अखण्ड, पूर्ण है, जिस प्रकार ब्रह्म एक, पूर्ण और अविभाज्य होता है। फिर भी अनेक, सखण्ड और अपूर्ण जगत को व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य स्वीकारा जाता है। सखण्ड स्फोट भी अनेक, अपूर्ण और विभाज्य है। स्फोट को सखण्ड माननेवाले विचारक उसे ''वर्णपदसहित वाक्य'' की संज्ञा देता है, जबकि अखण्ड स्फोटवादी उसे ''वर्णपदरहित वाक्य'' कहता है। यही कारण है कि सखण्ड स्फोट के विचार को सावयव वाक्यवाद या सखण्ड वाक्यवाद कहा जाता है। अखण्ड स्फोट का विचार निरवयव वाक्यवाद या अखण्ड वाक्यवाद कहलाता है।

अखण्ड स्फोटवाद के अनुसार वाक्य या स्फोट निरवयंव मात्र होता है, उसे वर्ण और पदों में विभाजित करने की आवश्यकता ही नहीं है। वाक्य एक सम्पूर्ण इकाई है और इकाई वह सूक्ष्मतम अणुरूप है जिसका विभाजन असम्भव है। फिर भी वैयाकरणों ने वाक्य को वर्ण और पद के रूप में विभाजित किया है। भट्टोजि दीक्षित का मानना है कि वस्तुतः वर्ण और पद भी स्फोट मात्र ही हैं, क्योंकि वाक्य की अभिव्यंजना इनके बिना नहीं हो सकती। मूलतः वाक्य एक और अखण्ड इकाई है। इसलिए इसे 'वर्णातिरिक्त' कहा जाता है। वर्ण पद और वाक्य दोनों के व्यंजक होते हैं। वस्तुतः पद या वाक्य वर्णसमूह नहीं हैं, ये वर्ण से व्यंजित पदों या वाक्यों के अर्थ होते हैं और अर्थ एक ही होता है। ककार आदि वर्ण वस्तुतः स्फोट ही हैं। ध्वनियाँ व्यंजक हैं। ये उपाधि हैं। अतएव स्फोट के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं हैं।[146] दूसरे शब्दों में वर्णस्फोट या पदस्फोट बाह्य या व्यावहारिक दृष्टिकोण से स्वीकार्य है, पर वास्तविक या आन्तरिक दृष्टिकोण से वर्णस्फोट और पदस्फोट वाक्यस्फोट में ही समाहित है। अतः मूल रूप में स्फोट मात्र वाक्य ही है। यही कारण है कि वैयाकरणों ने स्फोट को केवल एक और अखण्ड माना है। फिर भी, उसकी अभिव्यंजना वर्णों और

146. भट्टोजि दीक्षित, शब्दकौस्तुभ, पृ॰ 14

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदों से होती है। वाक्य और उसके अवयव (वर्ण, पद) में भेद लोकव्यवहार की दृष्टि से पाया जाता है, वस्तुतः परमार्थ या वास्तविक दृष्टि से इनमें अभेद का सम्बन्ध है अर्थात् वाक्य निरवयव है।

स्फोट के उपर्युक्त विभिन्न प्रकारों को आचार्य वृषभ ने सावयव और निरवयव स्फोट के रूप में विभाजित किया है। पुनः सावयव स्फोट को जातिस्फोट, पदव्यक्तिस्फोट तथा वर्णव्यक्तिस्फोट में विभाजित किया है।[147] उन्होंने स्फोट को परिभाषित करते हुए कहा है कि "अनेक ध्वनियों-वर्णों से व्यंग्य नित्यशब्द व्यक्तिस्फोट कहलाता है। यह पदस्फोट है।"[148] इस प्रकार स्फोट को पदस्फोट की संज्ञा देते हुए उसे नित्य शब्द और व्यक्ति की भी संज्ञा दी गयी है। व्यक्ति से वर्ण का तात्पर्य लिया जाता है अर्थात् स्फोट वर्णयुक्त नित्य पद (शब्द) का नाम है। नित्य शब्द जातिस्फोट को कहा गया है।[149] निरवयवस्फोटवाद वर्ण, पद और वाक्य स्फोटों में अभेद मानता है। इसके अनुसार एक ही अखण्ड शब्द (स्फोट) वर्ण, पद और वाक्य के क्रमिक अवयव रूप में प्रतिबिम्बों में प्रकाशित होता है[150] अर्थात् सावयव स्फोट आभास मात्र है। आचार्य वृषभ द्वारा प्रस्तुत स्फोट के वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका से दिखलाया जा सकता है—

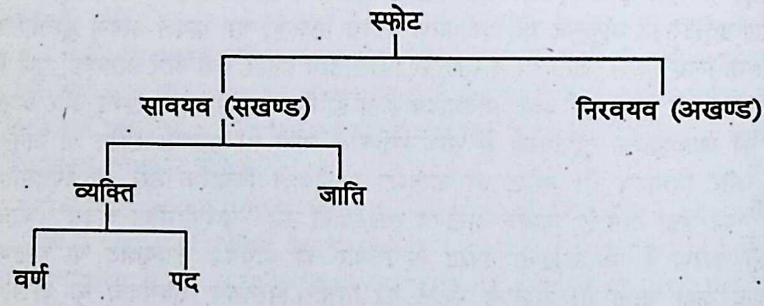

स्फोटवाद की समीक्षा—स्फोटवाद शब्दनित्यतावाद, शब्दाध्यासवाद तथा शब्दब्रह्मवाद के पर्याय रूप में जाना जाता है। वस्तुतः ये तीनों स्फोटवाद के रूप हैं। किन्तु नैयायिकों और मीमांसकों ने क्रमशः शब्दनित्यतावाद तथा शब्दाध्यासवाद या शब्दब्रह्मवाद की आलोचना की है। मीमांसकों ने शब्दनित्यतावाद को स्वीकार किया है, जबकि नैयायिकों ने शब्दानित्यतावाद का समर्थन किया है। नैयायिकों का मानना है कि शब्द की उत्पत्ति होती है। इसलिए उसका विनाश भी होता है। ध्वनि भी उत्पन्न और विनष्ट होती है। अतः प्राकृत ध्वनि के रूप में स्फोट की नित्यता असम्भव है। ध्वनि प्राकृत और वैकृत नहीं होती। वह ध्वनि मात्र है। ध्वनि द्वारा ही वर्ण और शब्द की उत्पत्ति होती है। दरवाजे पर लगी घंटी तबतक चुप रहती है, जबतक उसे नहीं बजाया जाता है। ज्योंहि घंटी की स्वीच दबती है, घंटी आवाज करती है। किन्तु कुछ क्षण के बाद वह आवाज समाप्त हो जाती है। ढोल पर थाप पड़ने से आवाज होती है, थाप नहीं पड़ने पर वह शान्त रहता है। स्पष्ट है कि ध्वनि की उत्पत्ति और विनाश होते हैं। शब्द ध्वनि द्वारा ही उच्चरित होता है। अतः शब्द भी उत्पन्न और विनष्ट होता है। उदाहरण के लिए "कमल" शब्द का उच्चारण होता है। हम

147. वृषभ आचार्य, वाक्यपदीयवृत्ति भाष्य, वृत्ति 23.

148. डॉ॰ शिवशंकर अवस्थी, वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड), पृ॰ 139

149. वही

150. वही.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहले क, फिर म और अन्त में ल वर्ण का उच्चारण करते हैं। ये उच्चारण क्रम से होते हैं। एक वर्ण (क) का उच्चारण समाप्त होने पर दूसरा वर्ण (म) उच्चरित होता है और दूसरा वर्ण का उच्चारण समाप्त होने पर तीसरा वर्ण (ल) उच्चरित होता है। ल के उच्चारण की समाप्ति के साथ ही 'कमल' शब्द की उत्पत्ति होती है और ज्योंहि वक्ता इस शब्द का उच्चारण करता है तथा श्रोता सुनता है, त्योंहि यह (कमल) शब्द समाप्त हो जाता है। अतः शब्द उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। इनकी उत्पत्ति और विनाश समुद्र में उत्पन्न ज्वार-भाटे या तरंगों के समान होती है। अतः वीचि-तरंग न्याय के आधार पर नैयायिकों ने शब्द को अनित्य माना है। दूसरे शब्दों में स्फोट कदापि नित्य नहीं हो सकता। यदि स्फोट नित्य नहीं है, तो स्फोट की कल्पना ही निर्मूल और निरर्थक है।[151] आज तक किसी ने स्फोट को प्रमाणित नहीं किया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द— इन चार प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण स्फोट को सिद्ध करने में सक्षम नहीं है। हमें श्रौतेन्द्रिय द्वारा ध्वनि का प्रत्यक्ष होता है, न कि स्फोट का। अनुमान द्वारा भी स्फोट की सिद्धि असम्भव है, क्योंकि अनुमान व्याप्ति (हेतु-साध्य के अनिवार्य सम्बन्ध) पर आधारित है। ध्वनि और स्फोट में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता। व्याप्ति सम्बन्ध बतलाता है कि एक हेतु से उसके अनुरूप साध्य ही सिद्ध हो सकता है। लेकिन 'कर' शब्द जैसे अनेक शब्द हैं जिनकी उच्चरित ध्वनि से उस शब्द के अनुरूप एक ही अर्थ (स्फोट) नहीं निकलता है, बल्कि कर का अर्थ टैक्स और हाथ दोनों है। ये संज्ञावाचक शब्द हैं। पर 'कर' का अर्थ क्रियावाचक रूप में भी होता है। 'कर' का तात्पर्य 'करना' क्रिया से भी है। अतः कर और उसके अर्थ (स्फोट) में अनिवार्य सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति नहीं हो सकती। जहाँ तक उपमान से स्फोट की सिद्धि की बात है, तो उपमान समानता पर आधारित होता है। शब्द और स्फोट में समानता नहीं हो सकती, क्योंकि ये एक ही पद है। समानता दो पदों में पायी जाती है। शब्द प्रमाण भी 'स्फोट' को सिद्ध करने में असमर्थ है। वेदादि ग्रंथों में 'स्फोट' शब्द का प्रयोग नहीं है, वरन् वाक् या भाषा शब्द का प्रयोग है। वाक् वाणी को कहते हैं। वाणी ध्वनि द्वारा उच्चरित है। भाषा भी ध्वन्यात्मक होती है। ध्वनि में परिवर्तन के कारण वाणी या भाषा परिवर्तित होती है। अतः स्फोट नित्य नहीं हो सकता। यदि स्फोट को नित्य माना जाय, तो उसे उसी प्रकार सदैव सुना जाना चाहिए, जिस प्रकार शब्द को सुना जाता है। शब्द आकाश नामक द्रव्य का गुण है। आकाश के समान स्फोट को भी किसी द्रव्य में निहित होना चाहिए, यदि स्फोट नित्य है तो वह शब्दसम गुण है। अतः शब्द और स्फोट दोनों को सदैव श्रौतेन्द्रिय में निहित रहना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता है। अतएव स्फोट की कल्पना ही व्यर्थ है। जयन्त भट्ट के शब्दों में, ''वर्णसमूह (शब्द) से स्वतन्त्र वैयाकरणों के शब्द स्फोट की सत्ता की कल्पना आवश्यक नहीं है।''[152]

नैयायिकों ने एक आपत्ति और की है। स्फोट की अभिव्यक्ति एक-एक वर्ण से होती है या सभी वर्ण एक साथ मिलकर करते हैं। यदि एक-एक वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति मानी जाय, तो मात्र एक वर्ण ही अर्थ देने में सक्षम होगा, दूसरे वर्ण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। 'क' वर्ण का उच्चारण ही 'कलम' या 'कमल' का अर्थ प्रदान करने में सक्षम होगा। पर हम अपने दैनिक अनुभव में ऐसा नहीं देखते हैं। अतः एक-एक वर्ण

---

151. डॉ॰ वी कृष्णास्वामी आयंगार, उपर्युक्त, पृ॰ 145
152. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी भाग एक, पृ॰ 138

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्फोट की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है। अब यदि मान लिया जाय कि सभी वर्ण एक साथ मिलकर स्फोट को अभिव्यक्त करते हैं, तो यह मानने में क्या हर्ज है कि वर्णसमुदाय से ही स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। सभी वर्णों का परस्पर मिलना तो वर्णसमुदाय ही है। अर्थात् स्फोटवाद संगत सिद्धान्त नहीं है।

परन्तु नैयायिकों की इस आलोचना का उत्तर वैयाकरणों ने दी है। वस्तुतः नैयायिक ध्वनि और शब्द को एक मान लेते हैं और वे शब्द की उत्पत्ति-विनाश की बात करते हैं। वस्तुतः शब्द की न तो उत्पत्ति होती है और न ही उसका विनाश होता है। वह उत्पत्ति-विनाश के परे है। इसलिए शाश्वत या नित्य है। ध्वनि की उत्पत्ति होती है और उसका विनाश होता है। ध्वनि शब्द को उत्पन्न या विनष्ट नहीं करती है, बल्कि उसे अभिव्यक्त करती है। अतः शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वह उच्चारण द्वारा अभिव्यक्त होता है। नैयायिकों ने शब्दाभिव्यक्ति को शब्दोत्पत्ति मान लिया है। इसलिए उन्होंने शब्द अनित्यतावाद का समर्थन किया है। वस्तुतः स्फोटवाद शब्दाभिव्यक्तिवाद है, न कि शब्दानित्यतावाद। शब्द-अनित्यतावाद को स्वीकारने के कारण ही नैयायिकों ने स्फोटवाद का खंडन किया है।

मीमांसकों ने भी वैयाकरणों की भांति शब्दनित्यतावाद को स्वीकार किया है। परन्तु उनकी दृष्टि में शब्द या वाक्य नित्य नहीं होते हैं, वरन् वर्ण ही नित्य होते हैं। वर्णों से ही शब्द बनते हैं और शब्दों से वाक्य। अतः शब्द और वाक्य की नित्यता तभी सम्भव है, जब वर्ण या अक्षर नित्य हो। शाबरभाष्य में कहा गया है कि ध्वनि या वर्णसमूह से स्वतंत्र स्फोट या अव्यक्त शब्द की सत्ता नहीं है। इसलिए उपवर्ष ने कहा— वर्ण एव तु शब्दः[153] अर्थात् वर्ण ही अर्थ की अभिव्यंजना करने में सक्षम है और इसलिए वह शब्द है। अव्यक्त शब्द अर्थात् स्फोट की सत्ता नहीं है। वर्ण नित्य होते हैं। अतः वर्णों से अभिव्यंजित अर्थ भी नित्य होते हैं। जहाँ वैयाकरण स्फोट के रूप में शब्दनित्यतावाद को स्वीकारता है, वहाँ मीमांसकों का शब्दनित्यतावाद वर्ण के रूप में है। अतः मीमांसकों का शब्दनित्यतावाद वर्णनित्यतावाद कहलाता है। परन्तु वर्ण से अर्थ की अभिव्यंजना सम्भव नहीं है। एक-एक वर्ण या अक्षर से अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। मीमांसकों के अनुसार वर्णसमुदाय अर्थात् शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में शब्दाभिव्यक्ति अर्थात् अर्थ की अभिव्यक्ति एक-एक वर्ण से मानी जाय, तो यह निश्चित करना कठिन है कि किस वर्ण से अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है। यही कारण है कि नैयायिकों ने मीमांसकों के शब्दनित्यतावाद को नहीं स्वीकार किया है।[154] वस्तुतः अक्षरों या वर्णों में अर्थबोध की शक्ति नहीं रहती। यदि अक्षर या वर्णविशेष में यह शक्ति रहती, तो समान अक्षरों से बने सभी शब्दों का अर्थ समान होता। नदी-दीन, कलम-कमल, सर-रस, मन-नम आदि सभी शब्दों का एक ही अर्थ होता, लेकिन इनके अर्थ अलग-अलग होते हैं। अतः वर्ण को अर्थबोधक नहीं माना जा सकता अर्थात् वर्णनित्यता की कल्पना असम्भव है। इस असम्भावना का दूसरा कारण यह है कि वर्ण को नित्य और व्यापक मानकर भी उसके क्रमशः उच्चारण को देश-काल की सीमा में बांधा गया है। देश-काल से आवृत्त होने के कारण वर्ण की नित्यता खंडित हो जाती है।[155] अतएव वर्णनित्यतावाद के रूप में भी शब्दनित्यतावाद का खंडन होता है। कुमारिल ने शब्दाध्यासवाद का खंडन किया है। उनके अनुसार अध्यास दो प्रकार से सम्भव है—

153. शबरस्वामी, मीमांसासूत्रभाष्य, पृ॰ 45
154. जयन्त भट्ट, उपर्युक्त, पृ॰ 337
155. शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1.3.28

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(क) समानता के कारण एक वस्तु में उस वस्तु से भिन्न दूसरी वस्तु की प्रतीति का होना।

(ख) एक वस्तु के गुण का अन्यत्र संक्रमण से उस वस्तु में अन्य वस्तु का असत्य बोध होना।

रस्सी में साँप, सीपी में चांदी आदि का बोध होना पहले प्रकार का अध्यास है। जब स्फटिक के पास जपा का फूल रहता है, तो उस फूल की लाली स्फटिक में संक्रमित होती है, और स्फटिक में जपा के फूल की अवास्तविक प्रतीति होती है। यह दूसरे प्रकार का अध्यास है। शब्द और उसके अर्थ में न तो समानता पायी जाती है और न एक के गुण का संक्रमण अन्यत्र होता है। गुण का अन्यत्र संक्रमण उपराग कहलाता है। जब शब्द और अर्थ में दोनों प्रकार का अध्यास नहीं हो पाता है तो शब्द और अर्थ में अभेद की मिथ्या प्रतीति नहीं हो सकती, अर्थात् शब्द और अर्थ अभिन्न नहीं है।

दूसरी बात यह है कि उपरागरूप अध्यास उन्हीं वस्तुओं में हो सकता है, जो समान इन्द्रिय के विषय होते हैं। परन्तु शब्द और अर्थ अलग-अलग इन्द्रिय के विषय हैं। शब्द श्रौतेन्द्रिय का विषय है, तो अर्थ बुद्धिजन्य है अर्थात् मानस इन्द्रिय का विषय है। अतः शब्द और अर्थ में अध्यास की सम्भावना ही नहीं है।[156] प्रतिबिम्बवाद के अनुसार भी शब्द और अर्थ में तादात्म्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। वैयाकरणों ने स्फोट के रूप में शब्द और उसके अर्थ में तादात्म्य स्थापित किया है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जलाशय में एक ही सत् चन्द्रमा अनेक दीखता है। इसी प्रकार एक ही स्फोट अनेक रूप में अभिव्यक्त होता है। परन्तु शब्द का तो कोई रूप-रंग नहीं होता। रंगविहीन शब्द या स्फोट का प्रतिबिम्ब बन ही नहीं सकता। इस प्रकार कुमारिल स्फोटवाद के शब्दाध्यासवादरूप की आलोचना करता है।

वैयाकरणों ने कुमारिल की उक्त आलोचना का उत्तर दिया है। उनका कहना है कि स्फटिक में जपा के फूल की प्रतीति द्वारा शब्दाध्यासवाद का खंडन सम्भव नहीं है। शब्द से अभिव्यंजित अर्थ में शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की ऐसी मिश्रित प्रतीति होती है कि उनके तात्त्विक भेद का बोध मिट जाता है और उनमें अभेद का बोध आरोपित हो जाता है। ऐसा तभी सम्भव होता है जब शब्द और उसके अर्थ में अनिवार्य सह-स्थिति हो। व्यावहारिक जीवन में भी ऐसी स्थिति देखी जाती है। जब अनेक स्वादवाली वस्तुओं को मिलाकर उस मिश्रण का स्वाद लिया जाता है तो सभी प्रकार के स्वाद में अभेद की प्रतीति होती है। विभिन्न इन्द्रियों के विषय गंध, स्वाद आदि में भिन्नता होते हुए भी उनमें अभेद का बोध होता है। अतएव शब्दाध्यासवाद का खंडन तर्कसंगत नहीं है।

यही कारण है कि वैयाकरणों ने शब्दाध्यासवाद के रूप में भी स्फोटवाद को स्वीकारा है। शंकर ब्रह्मवादी हैं और भर्तृहरि भी शंकर की तरह अद्वैतवादी हैं। भर्तृहरि का अद्वैतवाद शब्दाद्वैतवाद या शब्दब्रह्मवाद कहलाता है। भर्तृहरि ने स्फोट को शब्दब्रह्म के रूप में स्वीकारा है। परन्तु शंकर की मान्यता है कि स्फोट की कल्पना अनावश्यक है। क्रमबद्ध रूप से उच्चरित वर्ण-ध्वनियाँ ही अर्थ को बुद्धि की संश्लेषित शक्ति द्वारा शब्द के अर्थ को अभिव्यक्त करती हैं। जिस प्रकार सेना, जंगल आदि विभिन्न सैनिकों, वृक्षों का संश्लेषित रूप है या ये एकत्व या अभेद के द्योतक हैं, उसी प्रकार अभेद तथा एक ही शब्दार्थ को ध्वनि-समूहों द्वारा जाना जाता है।[157] अतः स्फोट की आवश्यकता नहीं है। समस्त प्रत्यय

156. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, पृ॰ 212
157. भामती, ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका, 1.3.28.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विमर्शिनी बुद्धि ही शब्दार्थ है। इस प्रकार शंकर एवं उनके अनुयायियों ने शब्द और उसके अर्थ को सम्प्रत्यय मात्र मानकर उन्हें बुद्धि-ग्राह्य मात्र माना है। डी॰ एम॰ दत्त ने अद्वैत वेदान्त के इस विचार की तुलना काण्ट के प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णय तथा गेस्टाल्ट के मनोविज्ञान के विचारों से की है।[158]

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र सूरि का मानना है कि स्फोटवाद स्पष्ट नहीं कर पाता है कि शब्द और अर्थ एक साथ एक ही आधार में रहते हैं या दोनों अभिन्न हैं। एक ही आधार को समानाधिकरण कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनों का समानाधिकरण संभव नहीं है। 'घट' शब्द से निर्देशित 'घट' वस्तु कहीं भी रह सकता है। पर 'घट' शब्द से व्यंजित 'घट' अर्थ कहीं नहीं रह सकता। 'घट' अर्थ श्रौतेन्द्रिय में ही रहता है। अतः शब्द और अर्थ का समानाधिकरण असम्भव है। यदि शब्द और अर्थ अभिन्न होते, तो दोनों का ज्ञान एक ही इन्द्रिय से होता। पर ऐसा नहीं होता है। 'नीला' शब्द कान से सुना जाता है, पर नीला रंग आंख से देखा जाता है। 'नीला' शब्द का अर्थ नीला रंग है। अतः नीला और नीला रंग अभिन्न नहीं हैं अर्थात् शब्द और अर्थ में अभेद नहीं होता। वे अभिन्न नहीं होते। इसलिए स्फोट की कल्पना ही व्यर्थ है।[159] बौद्ध दार्शनिकों ने भी शब्द से अर्थ की अभिव्यंजना को अस्वीकृत कर दिया है। उनके अनुसार बाह्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है, जो कुछ है वह विज्ञान या शून्य है। शब्द भी विज्ञान या शून्य है और उसके अर्थ भी। जब शब्द और अर्थ दोनों का स्वरूप एक ही है अर्थात् दोनों एक ही है, तो शब्द से अर्थ अभिव्यंजित हो ही नहीं सकता। 'घट' शब्द विज्ञान है, 'घट' वस्तु भी विज्ञान है। घट शब्द और घट वस्तु दोनों निःस्वभाव है अर्थात् शून्य है। अतः स्फोटवाद असंगत सिद्धान्त है।

वैयाकरणों के अनुसार प्रभाचन्द्र सूरि का तर्क अवैज्ञानिक है। यह मानना कि शब्द किसी वस्तु को निर्देशित करता है और वह विभिन्न इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, गलत है। वस्तुतः शब्द के अर्थ से किसी वस्तु का निर्देश आवश्यक नहीं है। बहुत-से ऐसे शब्द होते हैं जिनके अर्थ हैं किन्तु वे वस्तु को निर्देशित नहीं करते। जैसे— आकाशगंगा। वस्तुतः बुद्धि से ही शब्द और अर्थ का ग्रहण होता है, न कि प्रत्यक्ष से। श्रौतेन्द्रिय का विषय शब्द नहीं, ध्वनि है। इसी प्रकार बौद्धों ने भी विज्ञान या शून्य रूप के कारण शब्द से अर्थ की अभिव्यंजना को नहीं स्वीकारा है। यदि बाह्य सत्ता को विज्ञान या शून्य कहा जाय, तो इसका ज्ञान होना ही सम्भव नहीं है। परन्तु विज्ञान या शून्य के रूप में बाह्य सत्ता का ज्ञान अनुमान से माना जाता है। अनुमान प्रत्यक्ष के बिना असम्भव है। जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होगा, वह विज्ञान या शून्य नहीं हो सकता। अतः शब्द और अर्थ को न तो विज्ञान और न ही शून्य माना जा सकता है। अर्थात् स्फोटवाद का खंडन असम्भव है।

यद्यपि स्फोटवाद की आलोचना नैयायिकों, मीमांसकों और वेदान्तियों ने की है, यहाँ तक कि जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने भी की है, पर उनकी आलोचना का वैयाकरणों ने उत्तर भी दिया है। उनके उत्तर इतने तर्कसंगत हैं कि स्फोटवाद को सार्थक और संगत सिद्धान्त मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

□

158. प्रो॰ हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ॰ 37
159. प्रभाचन्द्र सूरि, प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ॰ 40

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दशम अध्याय

अवच्छेदकता

'अवच्छेदकता' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग नव्य न्याय के प्रवर्त्तक गंगेश उपाध्याय ने किया। गंगेश स्वयं नैयायिक थे, और वे अपने दालान में बैठकर अपने शिष्यों को न्याय दर्शन का अनुमान पाठ पढ़ा रहे थे। गोतम, जो न्याय दर्शन के प्रवर्त्तक हैं, के न्यायसूत्र में दिया गया उदाहरण ''जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है'' का पाठ गंगेश के शिष्य बार-बार दुहरा रहे थे। अन्दर गंगेश की पत्नी रसोई घर में चूल्हा जला रही थी। उस समय लकड़ी और गोयठा से ही चूल्हा जलाया जाता था। गंगेश की पत्नी बार-बार चूल्हा फूंक रही थी, पर धुआं के अतिरिक्त कुछ भी परिणाम नहीं निकल रहा था, अर्थात् चूल्हा नहीं जल रहा था। धुआँ था, लेकिन आग नहीं थी। इधर दालान में धुआँ-आग की व्याप्ति का पाठ निरन्तर पढ़ाया जा रहा था। गंगेश की पत्नी के कानों में शिष्यों की आवाज लगातार गूंज रही थी। रसोई घर में पत्नी लगातार परेशान हो रही थी। अन्त में श्रीमती गंगेश उपाध्याय को एक तरकीब सूझी। उन्होंने एक घड़ा लिया। उस घड़े को धुआँ से भर लिया और उसे ढक्कन से बन्द कर दिया। धुआँ से भरे बन्द घड़ा को लेकर वह गंगेश के पास पहुंची। उस समय भी शिष्य रट लगा रहे थे— यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र बह्निः। गुस्से में आकर श्रीमती गंगेश ने अपने पति के सामने घड़ा पटक दिया। घड़ा फूट गया और उससे केवल धुआँ ही धुआँ निकलने लगा। पत्नी ने पूछा— अत्र धूमः कुत्र बह्निः। (यहाँ धुआँ है, आग कहाँ है?) गंगेश और उनके शिष्य भौचक्के रह गये। यह समस्या तो न्यायसूत्र के प्रणेता से लेकर भाष्यकार वात्स्यायन, वार्त्तिककार उद्योतकर और टीकाकार वाचस्पति मिश्र आदि किसी के समक्ष नहीं आयीं। पर गंगेश की पत्नी का यह प्रश्न गंगेश को झकझोर दिया और उन्होंने पत्नी से शास्त्रार्थ शुरू किया। गुरू और गुरू-पत्नी के शास्त्रार्थ को उनके शिष्यों ने भी बड़े मनोयोग से सुना। उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गंगेश ने कहा— यत्र मूलावच्छेदेन धूमः तत्र बह्निः। (जहाँ धुआँ अपनी जड़ से संयुक्त रहेगा, वहाँ आग अवश्य रहेगी।) गंगेश की पत्नी ने कहा कि ऐसी स्थिति में अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जहाँ धुआँ अपनी जड़ से संयुक्त है, तो वहाँ आग का स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है। पत्नी की इस बात पर गंगेश फिर सोच में डूब गये। सोचकर उन्होंने एक दूसरी अवच्छेदकता लगाकर उत्तर दिया। पहली अवच्छेदकता 'जड़' द्वारा उत्तर दिया गया था, जिससे गंगेश की पत्नी संतुष्ट नहीं थी। दूसरी अवच्छेदकता द्वारा प्राप्त उत्तर से वह संतुष्ट नहीं हुई। पुनः गंगेश तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि अवच्छेदकताओं का प्रयोग करते रहे और उनकी पत्नी असंतुष्ट होकर प्रश्न पर प्रश्न करती रही। अन्ततः गंगेश ने जिस अवच्छेदकता को लाकर उत्तर दिया, उससे पति-पत्नी के बीच का शास्त्रार्थ समाप्त हुआ। वह अवच्छेदकता ''प्रकारता'' के रूप में आया। गंगेश का अन्तिम उत्तर था— यत्र एतत् प्रकारकः धूमः तत्र एतत् प्रकारकः बह्निः। (जहाँ अमुक प्रकार का धुआँ रहेगा, वहाँ अमुक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार की आग रहेगी।) इस प्रकार पति-पत्नी के परस्पर मनोरंजक वाद-विवाद द्वारा 'अवच्छेदकता'' की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः अवच्छेदकता एक दाम्पत्य परिहास का परिणाम है और इसी परिहास ने गंगेश से ''तत्त्व-चिन्तामणि'' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना करवा ली। तत्त्वचिन्तामणि नव्य न्याय का गीता, कुराण और बाइबिल कहलाता है। वस्तुतः पति-पत्नी का यह प्रश्नोत्तरी परिहास ने ही नव्य न्याय को जन्म दिया। सही मायने में नव्य न्याय भाषाविश्लेषण की एक नवीन तकनीकी पद्धति को प्रस्तुत करता है। वह नवीन तकनीकी पद्धति ही अवच्छेदकता है।

अवच्छेदकता का अर्थ—अवच्छेदकता शब्द संस्कृत भाषा के 'छिद्' धातु से बना है। छिद् का अर्थ छेदना, बाँटना, तोड़ना, टुकड़ा करना आदि है। अतः अवच्छेदकता का अर्थ वह प्रक्रिया है जो किसी वाक्य को बाँटती, छेदती या टुकड़े करती हैं और छेदनेवाला, बाँटनेवाला, तोड़नेवाला या टुकड़ा करनेवाला को अवच्छेदक कहा जाता है। यदि एक सरल रेखा को दो या तीन भागों में बाँट दिया जाय, तो इसका तात्पर्य है कि उस रेखा की लम्बाई को छोटा करना अर्थात् सीमित करना। अतः अवच्छेदक को सीमित करनेवाला भी कहा जाता है, और अच्छेदकता सीमित करनेवाली प्रक्रिया या विधि है। यह वाक्य के विश्लेषण की विधि है। गंगेश ने अवच्छेदकता का प्रयोग दो अर्थों में किया है— गुण के रूप में और सम्बन्ध के रूप में। गुण के रूप में प्रयुक्त अवच्छेदकता अवच्छेदक धर्म कहलाता है। सम्बन्ध के रूप में अवच्छेदकता अवच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। ''यह घड़ा है।'' इस वाक्य में दो पद प्रमुख हैं— यह और घड़ा। घड़ा वह है जिसमें घटत्व निहित रहता है। घटत्व घड़ा का अवच्छेदक धर्म है। परन्तु यह शब्द घड़ा के साथ सम्बन्धित है। 'यह' शब्द और 'घड़ा' शब्द के बीच एक सम्बन्ध है। वह संयोग या समवाय सम्बन्ध हो सकता है। चूँकि 'यह' शब्द का प्रयोग अन्य पदों के साथ भी होता है। अतः इस वाक्य में यह और घड़ा का संयोग सम्बन्ध है। सम्बन्ध चाहे संयोग हो या समवाय, उसे अवच्छेदक सम्बन्ध कहा जाता है। अवच्छेदक सापेक्ष पद है। यह अवच्छेद्य या अवछिन्न के बिना नहीं होता अर्थात् अवच्छेदकता की प्रक्रिया या विधि द्वारा अवच्छेदक जिसे सीमित करता है, वह अवच्छेद्य या अवछिन्न कहलाता है। तात्पर्य यह है कि अवच्छेदकता वह प्रक्रिया या विधि या तकनीक है जिसके द्वारा किसी वाक्य एवं पद का विश्लेषण किया जाता है। विश्लेषण करनेवाले पद को अवच्छेद्य कहा जाता है और किसी पद का विश्लेषण गुण और सम्बन्ध द्वारा होता है। इसलिए गुण तथा सम्बन्ध को अवच्छेदक कहते हैं। अवच्छेदक गुण और सम्बन्ध ही नहीं होता, बल्कि उद्देश्य और विधेय भी होता है। वस्तुतः अवच्छेदक कोई भी हो, वह किसी वाक्य के अर्थ को विश्लेषित, निरूपित करता है। इसलिए उसे विश्लेषक या विशेषक, निरूपक कहा जाता है। अवच्छेदक को व्यावर्त्तक भी कहा गया है, क्योंकि वह वाक्य में प्रयुक्त पदों के खंड-खंड स्वरूप को प्रदर्शित करता है।

अवच्छेदकता को समझने के लिए दो वाक्य लिये जाते हैं— कटोरा में शहद है। शहद में मिठास है। कटोरा शहद का आधार है, क्योंकि शहद उसमें है। शहद आधेय है। अतः कटोरा और शहद में आधार-आधेय सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अस्थायी होता है। जबतक कटोरा में शहद है, तबतक दोनों में सम्बन्ध है। जब कटोरा में शहद नहीं रहता है, तो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव कटोरा और शहद का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है, अविनाभाव या तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। अतः ''कटोरा में शहद है।'' वाक्य का अर्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयोग सम्बन्ध अवच्छेदक द्वारा जाना जाता है। इस वाक्य का अर्थ है कि ''संयोग सम्बन्ध से कटोरा में शहद है।'' पर अभी भी वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं है। समस्या यह है कि कटोरा में शहद की मात्रा आधा कटोरा है या पूरा कटोरा या चौथाई कटोरा या उससे भी कम। कटोरा के जितने अंश तक शहद है, उसी के अनुकूल वाक्य का अर्थ है और शहद कटोरा में सदैव नहीं रहता। अतः इस वाक्य (कटोरा में शहद है।) का वास्तविक अर्थ है— ''कटोरा के अमुक भाग में अमुक स्थानविशेष तथा अमुक समय-विशेष में संयोग सम्बन्ध से शहद है। (एतत् देशावच्छेदेन एतत् कालावच्छेदेन संयोग सम्बन्धावच्छेदेन पात्रे मधु।) इसी प्रकार ''शहद में मिठास है।'' वाक्य में शहद और मिठास पदों में आधार-आधेय का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मिठास हमेशा शहद में अन्तर्निहित है। मिठास को शहद से अलग नहीं किया जा सकता। अतः इन दोनों पदों में समवाय सम्बन्ध पाया जाता है। यह सम्बन्ध त्रैकालिक और अविच्छेद्य होता है। अतः ''शहद में मिठास है।'' वाक्य का अर्थ ''सभी देशों (स्थानों) और सभी कालों (समयों) में समवाय सम्बन्ध से शहद के सम्पूर्ण भाग में मिठास है।'' होता है— सर्वदेशावच्छेदेन सर्वकालावच्छेदेन समवाय सम्बन्धावच्छेदेन मधुयाम् मधुरम् अस्ति।

इन दोनों वाक्यों में जिन अवच्छेदकों का प्रयोग किया गया है, वे हैं— सम्बन्ध अवच्छेदक (संयोग या समवाय), आधार-आधेय अवच्छेदक तथा दैशिक-कालिक अवच्छेदक। सम्बन्ध अवच्छेदक संसर्ग अवच्छेदक भी कहलाता है। एक दूसरा उदाहरण लिया जा सकता है। ''पर्वत आगयुक्त है।'' इस वाक्य का अर्थ जानने के लिए निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ना पड़ता है— (क) क्या सम्पूर्ण पर्वत आगयुक्त है या उसका कोई अंश? (ख) क्या पर्वत हमेशा आगयुक्त है या मात्र अभी (इस समय)? (ग) क्या पर्वत में आग समवेत है या संयुक्त; अर्थात् पर्वत और आग में समवाय सम्बन्ध है या संयोग सम्बन्ध? इन सभी प्रश्नों का उत्तर पर्वत की प्रकृति पर निर्भर करता है। यदि पर्वत ज्वालामुखी हो, तो उसका सम्पूर्ण अंश आगयुक्त है। अतः वह हमेशा ही आगयुक्त रहेगा और उसमें आग समवेत है अर्थात् पर्वत और आग में समवाय सम्बन्ध है। इसलिए ''पर्वत आगयुक्त है।'' का अर्थ सभी देश और सभी काल में समवाय सम्बन्ध से पर्वत आगयुक्त है— सर्वदेशावच्छेदेन सर्वकालावच्छेदेन समवायसम्बन्धावच्छेदेन पर्वतः बह्निमान्। परन्तु यदि पर्वत साधारण हो, तो उसके किसी एक अंश में आग रहती है अर्थात् पर्वत का कोई अंश आगयुक्त है। इसलिए पर्वत इस समय आगयुक्त होता है अर्थात् पर्वत में आग तात्कालिक रूप से या क्षणभर के लिए रहती है। फलतः पर्वत में आग संयुक्त है अर्थात् पर्वत और आग में संयोग सम्बन्ध होता है। अतः ''पर्वत आगयुक्त है।'' का अर्थ है— एक निश्चित देश और एक निश्चित काल में संयोग सम्बन्ध से पर्वत आगयुक्त है—एतत् देशावच्छेदेन एतत् कालावच्छेदेन संयोग सम्बन्धावच्छेदेन पर्वतः बह्निमान्। इस उदाहरण में भी दैशिक, कालिक और संसर्ग अवच्छेदकों का प्रयोग किया गया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी वाक्य का सही-सही अर्थ अवच्छेदकता की विधि या तकनीक को अपनाकर ही जाना जा सकता है। नव्य न्याय के अनुसार अवच्छेदकता का प्रयोग विभिन्न तरह से किया जाता है। ऊपर के उदाहरणों में आधार-आधेय नामक अवच्छेदकता और सम्बन्ध नामक अवच्छेदकता का प्रयोग किया गया है। साथ ही, देश-काल रूपी अवच्छेदकों की भी सहायता ली गयी है। पर्वत आधार है और आग आधेय है, यदि पर्वत का कोई एक अंश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आगयुक्त है। पर सभी अंशों अर्थात् सम्पूर्ण पर्वत के आगयुक्त होने से पर्वत और आग में आधार-आधेय का सम्बन्ध नहीं होता, वरन् उनमें गुणी-गुण का सम्बन्ध होता है। गुण गुणी या द्रव्य में सदैव निहित रहता है। जैसे— मिठास शहद में हमेशा है। आग ज्वालामुखी पर्वत में हमेशा रहती है। अतः उपर्युक्त उदाहरणों में द्रव्य और गुण अवच्छेदकों का भी प्रयोग हुआ है।

अवच्छेदकता का प्रयोग—साधारणतः नव्य न्याय में छः प्रकार से अवच्छेदकता के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। दूसरे शब्दों में छः प्रसंगों या संदर्भों में अवच्छेदकता प्रयुक्त होती है। वे संदर्भ हैं— उद्देश्यता-विधेयता, विशेष्यता-प्रकारता, आधारता-आधेयता, अनुयोगिता-प्रतियोगिता, कारणता-कार्यता तथा संसर्गता।

उद्देश्यता-विधेयता

''पर्वत आगयुक्त है'' वाक्य में पर्वत उद्देश्य है और आग विधेय है। इसके पूर्व की पंक्तियों में पर्वत और आग में आधार-आधेय सम्बन्ध बतलाया गया है। यहाँ पर्वत उद्देश्य है, इसलिए पर्वत का अर्थ जानने के लिए उद्देश्य अवच्छेदकता का प्रयोग किया जाता है। आग विधेय है, इसलिए आग का अर्थ जानने के लिए विधेय अवच्छेदकता का प्रयोग किया जाता है। अतः इस वाक्य का अर्थ होगा— (i) एक निश्चित स्थान और एक निश्चित समय में उद्देश्यावच्छेदक रूपी पर्वत संयोग सम्बन्ध से विधेयावच्छेदकरूपी आग द्वारा आगयुक्त है। (एतत् देशावच्छेदेन एतत् कालावच्छेदेन संयोगसम्बन्धावच्छेदेन उद्देश्यावच्छेदेन पर्वतः विधेयावच्छेदेन बह्निमान्।) (ii) सभी देश और सभी काल में उद्देश्यावच्छेदकरूपी पर्वत समवाय सम्बन्ध से विधेयावच्छेदकरूपी आग द्वारा आगयुक्त है। (सर्वदेशावच्छेदेन सर्वकालावच्छेदेन समवायसम्बन्धावच्छेदेन उद्देश्यावच्छेदेन पर्वतः विधेयावच्छेदेन बह्निमान्।) अब यदि ''पर्वत आगयुक्त है'' वाक्य को हेतु ''क्योंकि पर्वत धुआंयुक्त है'' वाक्य द्वारा सिद्ध किया जाता है, तो प्रथम वाक्य में आग साध्य है, दूसरे वाक्य में धुआँ हेतु है तथा दोनों वाक्यों में पर्वत पक्ष है। यहाँ ''पर्वत आगयुक्त है'' का अर्थ होगा— एक निश्चित देश या सभी देश और एक निश्चित काल या सभी काल में पर्वतरूपी पक्षावच्छेदक संयोग या समवाय सम्बन्ध से आगरूपी साध्यावच्छेदक से युक्त है। किन्तु ''पर्वत आगयुक्त है, इसलिए पर्वत उष्ण है।'' वाक्य लिया जाय, तो प्रथम वाक्य में आग हेतु है, दूसरे वाक्य में उष्ण साध्य है तथा दोनों वाक्यों में पक्ष पर्वत है। अतः ''पर्वत आगयुक्त है'' का अर्थ होगा कि एक विशेष देश और एक विशेष काल या सभी देश और सभी काल में पर्वतरूपी पक्षावच्छेदक संयोग या समवाय सम्बन्ध से आगरूपी हेत्वावच्छेदक से युक्त है। इस प्रकार विभिन्न अवच्छेदकताएँ एक ही शब्द या पद के अनेक अर्थ को स्पष्ट करती हैं। जिस प्रकार एक नारी विभिन्न सम्बन्धों से माँ, पत्नी, पुत्री, वधू आदि होती है, उसी प्रकार एक ही पद आग विभिन्न सम्बन्धों से उद्देश्य-विधेय, हेतु-साध्य बन जाती है। उद्देश्य की दृष्टि से विधेय, हेतु की दृष्टि से साध्य और साध्य की दृष्टि से हेतु बन जाती है।

विशेष्यता-प्रकारता

विशेष्यता 'विशेष्य' शब्द का भाववाचक पद है। विशेष्य वह है जो ज्ञान का विषय होता है। यह ऐसा विषय है जिसमें विशेषण पाया जाता है। विशेषण उसे कहते हैं जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेष्य के गुण को प्रकट करे। विषय का अर्थ है विशेषण से युक्त वह पदार्थ जो अपने में किसी ज्ञान को बांध ले। कहा गया है— विशेषण सिनोति बध्नाति इति विषयः।[160] विशेष्य की परिभाषा दी गयी है— विशेषेण शिष्यते इति विशेष्यम्[161] अर्थात् जिसमें विशेषण लग सके। विशेषण को "विशेष्यते भिद्यते अनेन"[162] द्वारा परिभाषित किया गया है। जो विशेष्य के गुण को बतलाता है, उसे ही विशेषण या प्रकार कहा जाता है। विशेषण या प्रकार का भाववाचक पद विशेषणता या प्रकारता है। विषय का भाववाचक पद विषयता कहलाता है। विषयता के ही तीन तत्त्व होते हैं अथवा विषयता में तीन तत्त्व पाये जाते हैं— विशेष्यता, प्रकारता (विशेषणता) तथा संसर्गता। विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को ही संसर्गता कहा जाता है। नव्य न्याय के अनुसार विशेषण का अर्थ उतना ही मात्र नहीं है, जितना व्याकरण में बतलाया जाता है। विशेषण का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसका प्रयोग संज्ञा, क्रिया, अव्यय आदि रूपों में भी किया जाता है। दंडी पुरुषः अर्थात् वह व्यक्ति जो छड़ी के सहारे चलता है। (छड़ीयुक्त व्यक्ति)। इस वाक्य में "छड़ी" विशेषण है। साधारणतः छड़ी संज्ञावाचक शब्द है। लेकिन यहाँ यह पद एक खास व्यक्ति की विशेषता बतलाता है। यह खास व्यक्ति अन्य व्यक्ति से भिन्न है। अन्य व्यक्ति छड़ी की सहायता से नहीं चलता है। अतएव "छड़ीयुक्त व्यक्ति" में 'छड़ी' विशेषण के साथ-साथ विभेदक गुण के रूप में भी काम करती है। यही कारण है कि विशेषण को विशिष्टताबोधक और व्यावर्त्तक कहा जाता है। "नीलः घटः" (नीला घड़ा) वाक्य में 'नीला' शब्द इस घड़ा को अन्य घड़ा, जो नीला नहीं है, से अलग करता है। नीला विशेषण है। नीलेतर घड़ा से नीला घड़ा को अलग करना ही व्यावर्त्तन है, और विशेषण ही अलग करता है। इसलिए विशेषण (नीला) व्यावर्त्तक है। दूसरे शब्दों में द्वैधीकरण द्वारा विशेष्य का व्यावर्त्तन करना ही विशेषण का काम है।

यद्यपि विशेषण विशेष्य में निहित रहता है और एक (विशेष्य) को द्रव्य तथा दूसरे (विशेषण) को गुण कहा जाता है, फिर भी दोनों में व्यापक अन्तर नहीं है। विशेषण का प्रयोग विशेष्य के रूप में और विशेष्य का प्रयोग विशेषण के रूप में किया जाता है। इसे समझने के लिए दो उदाहरण लिये जा सकते हैं— (i) यह घड़ा है। (ii) यह नीला घड़ा है।

पहला उदाहरण "यह घड़ा है" में यह उद्देश्य है और घड़ा विधेय है। विधेय वही होता है जो उद्देश्य की विशेषता को बतलाये। विशेषता बतलानेवाला विशेषण कहलाता है। अतः विधेय होने के कारण इस वाक्य में "घड़ा' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। "यह" शब्द विशेष्य है। उद्देश्य वही होता है जिसमें विशेषण पाया जाय और जिसमें विशेषण पाया जाता है उसे ही विशेष्य कहते हैं। अतएव इस वाक्य में यह और घड़ा क्रमशः विशेष्य और विशेषण हैं। लेकिन दूसरे वाक्य में 'नीला' विशेषण है और 'घड़ा' विशेष्य है। परन्तु उद्देश्य और विधेय की दृष्टि से 'यह' विशेष्य और 'नीला घडा' विशेषण है, किन्तु नीला के संदर्भ में घड़ा विशेष्य और घड़ा के संदर्भ में नीला विशेषण है। स्पष्ट है कि विशेष्य-विशेषण भाव ही सभी ज्ञान को निर्धारित करता है। किसी वस्तु या पद को जानने का अर्थ है कि उसे किसी-न-किसी विशेषण द्वारा जानना अर्थात् वस्तु या

---

160. उदयन, न्यायकुसुमांजलि, उद्धृत प्रो० हरिमोहन झा, उपर्युक्त, पृ० 144
161. वही
162. वही, पृ० 145

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद की विशेषता को जानना। एक वस्तु की भिन्नता अन्य वस्तु से उसकी विशेषता के आधार पर ही जानी जाती है। इसलिए विशेषण को 'प्रकार' भी कहते हैं। संसार की सभी वस्तुएँ एक ही प्रकार की नहीं होतीं, बल्कि विभिन्न प्रकार की होती हैं। वस्तुओं में प्रकार-भेद विशेषणता के कारण ही होता है। इसलिए विशेषणता को प्रकारता कहा जाता है। घडा अन्य वस्तु से भिन्न है, क्योंकि घड़ा में घटत्व नामक प्रकारता है जो अन्य वस्तुओं में नहीं है। घड़ा विशेष्यता है क्योंकि घटत्व इसी में निहित है। अतएव घड़ा के ज्ञान के लिए दो तथ्यों को जानना आवश्यक है क्योंकि ये तथ्य घट-ज्ञान में सन्निहित हैं। वे तथ्य हैं—

(क) घटनिष्ठ विशेष्यता (घड़ा में निहित विशेष्यता या द्रव्यत्व)

(ख) घटत्वनिष्ठ प्रकारता (घटत्व नामक विशेषणता या प्रकारता।)

अतः घट-ज्ञान का अर्थ होगा— घटत्वननिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता का ज्ञान। यही कारण है कि ज्ञान को "विशेषणविशेष्य अवगाही" कहा गया है।

विशेष्य और विशेषण के बीच जबतक संसर्ग नहीं होता है, तबतक किसी वाक्य या पद का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता अथवा अर्थ को जाना ही नहीं जा सकता। यह संसर्ग दो प्रकार का होता है— संयोग और समवाय। संयोग सम्बन्ध (संसर्ग) अस्थायी और तात्कालिक होता है। जैसे— जमीन पर घड़ा है। इस वाक्य में जमीन और घड़ा में संयोग संसर्ग पाया जाता है। जमीन विशेष्य है और उसका विशेषण घड़ा का होना है। लेकिन आवश्यक नहीं है कि घड़ा हमेशा जमीन पर रहे। अतः जमीन के साथ घड़ा का तात्कालिक और अस्थायी सम्बन्ध होता है। परन्तु "घड़ा नीला है।" वाक्य में घड़ा विशेष्य और उसका विशेषण नीला है। नीला घड़ा में "नीला" हमेशा निहित रहता है। अतः यहाँ घड़ा (विशेष्य) और नीला (विशेषण) में स्थायी संसर्ग होता है। स्थायी और अपरिवर्तन सम्बन्ध (संसर्ग) को ही समवाय संसर्ग कहा जाता है। विशेष्य-विशेषण का सम्बन्ध या संसर्ग चाहे संयोग हो या समवाय, विशेष्य का प्रयोग विशेषण के रूप में और विशेषण का प्रयोग विशेष्य रूप में भी होता है। उदाहरण के लिए अयं घटः (यह घड़ा है।) लिया जा सकता है। यदि यह (अयं) को विशेषण माना जाय, तो घड़ा (घटः) विशेष्य होगा और यदि घड़ा विशेषण हो, तो यह विशेष्य होगा। अतः इस वाक्य के दो अर्थ होंगे— (i) इदमर्थनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता ('यह' विशेषण से निर्धारित 'घट विशेष्य)। (ii) घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित इदमर्थनिष्ठ विशेष्यता। ('घट' विशेषण से युक्त 'यह' विशेष्य)।

आधारता-आधेयता—"पर्वत अग्नियुक्त है।" इस वाक्य में पर्वत आधार है और अग्नि आधेय। आधार वही होता है जिस पर कोई वस्तु टिकी रहती है और आधेय वह है जो किसी आधार के बिना नहीं रहता। "जमीन पर टेबुल है।" इस वाक्य में जमीन आधार और टेबुल आधेय है। अतः संसार में पायी जानेवाली वस्तुएँ आधार-आधेय रूप में सम्बन्धित रहती हैं। आधार-आधेय सम्बन्ध दो प्रकार का होता है— व्याप्यवृत्ति और अव्याप्यवृत्ति। व्याप्यवृत्ति वह है जिसमें आधेय सम्पूर्ण आधार में व्याप्त रहता है। जैसे— तिल में तेल। तेल तिल के सम्पूर्ण भाग में विद्यमान रहता है। (तिलस्यसर्वानवयवान् व्याप्य तैलं विद्यते।) अव्याप्यवृत्ति वह है जिसमें आधेय आधार के मात्र एक अंश में व्याप्त रहता है। जैसे— पेड़ पर बन्दर। बन्दर पेड़ की किसी एक डाली पर बैठता है, सम्पूर्ण पेड़ पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। अतः पेड़ और बन्दर में डाल के सम्बन्ध से संयोग होता है, जड़ के सम्बन्ध से नहीं। (शाखावच्छेदेन कपिसंयोगः, न मूलावच्छेदेन)

अव्याप्यवृत्ति आधार-आधेय सम्बन्ध किसी वस्तु के भाव और अभाव दोनों को एक साथ बतलाता है। बन्दर का डाली पर होना भाव है, लेकिन उसका सम्पूर्ण पेड़ पर नहीं होना अभाव है। एक ही वस्तु का एक ही अधिकरण (समानाधिकरण) में देश-काल के भेद से भाव और अभाव दोनों होता है। भाव-अभाव में निषेध्य-निषेधक भाव पाया जाता है। निषेध्य वह है जिसका निषेध किया जाता है, अर्थात् भाव पदार्थ। निषेधक वह है जो भाव पदार्थ का निषेध करता है, अर्थात् अभाव पदार्थ। इसलिए भाव-अभाव का साहचर्य परस्परविरोधी माना जाता है, अर्थात् दोनों एक साथ नहीं रह सकते। परन्तु अवच्छेदकता द्वारा इसका परिहार हो जाता है, अर्थात् दोनों एक साथ रह सकते हैं। उदाहरण के लिए देवदत्त के शरीर पर वस्त्र है और नहीं है, दोनों एक साथ सत्य है। देवदत्त के हाथ पर कपड़ा है, लेकिन उसके मुंह पर कपड़ा नहीं है। (हस्तावच्छेदेन वस्त्रम्, न मुखावच्छेदेन।) इसलिए कहा गया है कि भावाभावयोरेकत्र समावेशार्थमेव अवच्छेदकता स्वीकारः अर्थात् अवच्छेदकता भाव-अभाव को एकत्र समाविष्ट अर्थ में भी स्वीकार करती है।

आधार-आधेय का सम्बन्ध न केवल व्याप्यवृत्ति, अव्याप्यवृत्ति या भाव-अभाव के एकत्र समाविष्ट अर्थ में ही देखा जा सकता है, बल्कि सामान्य और विशेष भाव-अभाव रूप में भी देखा जा सकता है। जमीन पर घड़ा है—इस वाक्य में घड़ा का अर्थ सामान्य घड़ा है, विशेष घड़ा नहीं अर्थात् यहाँ सामान्य का भाव है जबकि विशेष का अभाव है। यह भाव-अभाव एक ही अधिकरण ''जमीन'' पर है। किन्तु जहाँ कोई घड़ा नहीं रहता है, वहाँ घड़ा का सामान्याभाव होता है। जब किसी स्थान पर व्यक्तिविशेष का घड़ा नहीं होता (जैसे— यहाँ देवदत्त का घड़ा नहीं है।), तो वहाँ विशेषाभाव होता है। इस प्रकार आधार-आधेय सम्बन्ध सामान्याभाव और विशेषाभाव अवच्छेदकताओं का भी निर्देश देता है।

अनुयोगिता-प्रतियोगिता—ऊपर की पंक्तियों में बतलाया गया है कि आधार-आधेय सम्बन्ध भावात्मक तथा निषेधात्मक दोनों होते हैं। जमीन पर घड़ा है। (घटवद् भूतलम्।)— इस वाक्य में जमीन आधार है और घड़ा आधेय। दोनों का सम्बन्ध भावात्मक है। परन्तु जमीन पर घड़ा नहीं है। (घटाभाववद् भूतलम्)— इस वाक्य में जमीन (आधार) और घड़ा (आधेय) का सम्बन्ध निषेधात्मक है। किन्तु दोनों वाक्यों में जमीन अर्थात् आधार उपस्थित है। जिस आधार में अभाव पाया जाता है, उसे अनुयोगी कहते हैं। आधार में जिस आधेय (वस्तु) का अभाव रहता है, उसे प्रतियोगी कहते हैं। कहा गया है— यस्मिन् अभावः सः अनुयोगी यस्याभावः सः प्रतियोगी। इस परिभाषा के अनुसार उक्त वाक्य (जमीन पर घड़ा नहीं है।) में जमीन अनुयोगी है, अर्थात् उसमें अनुयोगिता अवच्छेदकता है। घड़ा का अभाव प्रतियोगी है अर्थात् उसमें प्रतियोगिता अवच्छेदकता है। घड़ा का विश्लेषण जिस अवच्छेदकता से होता है, वह घटत्व है। घटत्व प्रतियोगिता अवच्छेदक है। घटत्व ही घड़ा को अ-घड़ा (अन्य वस्तुओं) से अलग करता है। इसलिए घटत्व को व्यावर्तक कहते हैं, उसी तरह जिस तरह विशेषण व्यावर्त्तक होता है।

घड़ा मिट्टी या अन्य द्रव्य से बनता है। परन्तु मर्त्तिकात्व तथा द्रव्यत्व को घड़ा का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता। मिट्टी या अन्य द्रव्य से अनेक वस्तुएँ बनती हैं, केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घड़ा नहीं। घड़ा मूर्त पदार्थ है। अतः उसमें मूर्तत्व भी पाया जाता है। पर मूर्तत्व भी घड़ा का अवच्छेदक नहीं है, क्योंकि यह अ-घड़ा में भी पाया जाता है। मिट्टी से बने घड़ाओ में मर्त्तिकात्व होता है, किन्तु अन्य द्रव्य (यथा सोना) से बने घड़ाओं में मर्त्तिकात्व नहीं होता। अतएव मर्त्तिकात्व रूप में अवच्छेदकता की वृत्ति न्यून है। लेकिन मूर्तत्व के रूप में अवच्छेदकता की वृत्ति अधिक है। न्यून वृत्ति और अधिक वृत्ति को अवच्छेदकता नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः अवच्छेदक (घटत्व) को अवच्छेद्य (घड़ा) के साथ समव्याप्तिक होना चाहिए, न कम व्याप्ति और न अधिक व्याप्ति। इसलिए कहा गया है कि अवच्छेदकता की विशेषता, ''अन्यूनाधिक वृत्ति'' है। अतः ''जमीन पर घड़ा नहीं है।'' वाक्य में मात्र घटत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक है, न कि द्रव्यत्व, मर्त्तिकात्व या मूर्तत्व। द्रव्यत्व सिर्फ घड़ा में नहीं पाया जाता, अन्य वस्तुओं में भी पाया जाता है। जमीन अनुयोगी है जो द्रव्य रूप है। इसलिए कहा जा सकता है— द्रव्यवद्भूतलम्। इस वाक्य का अर्थ है कि द्रव्यनिष्ठप्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता। द्रव्य विशेषण है और जमीन विशेष्य। घट द्रव्य है। अतःद्रव्य में घड़ा का अन्तर्भाव होने से इस वाक्य का अर्थ होगा— घटरूपद्रव्यनिष्ठ प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता। अतः घटाभाववद्भूतलम् (जमीन पर घड़ा नहीं है।) वाक्य द्रव्यवद्भूतलम् (जमीन द्रव्ययुक्त है।) वाक्य से वाधित हो जाता है। परन्तु यह सत्य नहीं है। वस्तुतः ऐसा कहना ''जमीन पर घड़ा नहीं है।'' वाक्य को ठीक से नहीं समझना है। यहाँ घड़ा का अभाव घटत्व अवच्छेदकता से है, द्रव्यत्व अवच्छेदकता से नहीं। यह उसी वाक्य से बाधित हो सकता है जो उसी अवच्छेदक (घटत्व) से घटाभाव की प्रतियोगिता का भाव अर्थात् घटाभावसूचक वाक्य का प्रतिबोधक वाक्य होगा— घटवद् भूतलम्। अतः इस वाक्य का अर्थ है— घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकतानिरूपित घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता। वस्तुतः घटाभाववद् भूतलम् और द्रव्यवद् भूतलम् वाक्यों में प्रतिबध्य-प्रतिबाधक भाव नहीं है। यद्यपि द्रव्यविशिष्ट भूतलविषयक ज्ञान घटनिष्ठ प्रकारकता निरूपक है, फिर भी वह प्रकारता घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित नहीं है। इसलिए इन दोनों वाक्यों में प्रतिबध्य-प्रतिबाधक सम्बन्ध नहीं है।

कारणता-कार्यता—कारणकार्य सम्बन्ध को समझने के लिए भी अवच्छेदकता का प्रयोग होता है। कपड़ा (पट) का कारण धागा (तन्तु) है। कपड़ा कार्य है। धागा में द्रव्यत्व, रूपत्व, आदि पाये जाते हैं। फिर भी द्रव्य या रूपत्व कारण के रूप में अवच्छेदक नहीं कहला सकता, क्योंकि ये केवल कपड़ा के कारण धागा में ही निहित नहीं रहते, बल्कि अन्य वस्तुओं के कारण में भी निहित रहते हैं। कपड़ा में भी द्रव्यत्व, रूपत्व पाया जाता है। परन्तु कपड़ा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में भी ये निहित होते हैं। अतः इन्हें न तो कारणावच्छेदक माना जा सकता है, न ही कार्यतावच्छेदक। कपड़ा और धागा ही क्रमशः कार्यतावच्छेदक और कारणावच्छेदक हैं। इसी प्रकार घट की कारणता दंड में पायी जाती है। अतः घट का कारणतावच्छेदक दंडत्व है, दंड का व्यक्तित्व नहीं। तात्पर्य यह है कि घट का कारण दंड मात्र होता है, न कि यह दंड या वह दंड।

अवच्छेदकता का प्रयोग कारण-सामग्री के विभिन्न अवयवों को जानने के लिए भी होता है। जैसे— आँखों के साथ किसी वस्तु का संयोग होना प्रत्यक्ष का कारण है। लेकिन प्रत्यक्ष तभी होता है जब वस्तु का आकार (रूप) हो और पर्याप्त रोशनी हो। अतः प्रत्यक्ष का कारण रूप से अवच्छिन्न प्रकाश के संयोग से युक्त वस्तु का आँखों से युक्त संयोग प्रत्यक्ष का कारण है— रूपावच्छिन्न प्रकाश संयोगावच्छिन्न चक्षुः संयोगः।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संसर्गता—संसर्ग का अर्थ सम्पर्क या सम्बन्ध है। सम्बन्ध किन्हीं दो वस्तुओं या पदों में पाया जाता है। वे वस्तुएँ या पद किसी आधार पर रहती हैं या नहीं रहती हैं। जब दो वस्तुएँ एक ही आधार पर रहती हैं, तो वह आधार समानाधिकरण कहलाता है। जब दो वस्तुएँ एक ही आधार पर नहीं रहती हैं, तो उस आधार को व्यधिकरण कहते हैं। अतः आधार की दृष्टि से सम्बन्ध दो प्रकार का होता है— समानाधिकरण सम्बन्ध तथा व्यधिकरण सम्बन्ध।

समानाधिकरण सम्बन्ध वह है जिसमें दो वस्तुएँ एक ही आधार में रहती हैं। जैसे— घट में घटत्व और द्रव्यत्व का होना। यहाँ आधार एक है— घट। इनमें दो अलग-अलग सामान्य (घटत्व, द्रव्यत्व) निहित हैं। **व्यधिकरण सम्बन्ध** वह है जिसमें दो वस्तुएँ एक ही आधार में नहीं रहती हैं। जैसे— मनुष्यत्व और पशुत्व। इन दोनों का आधार एक नहीं है। मनुष्यत्व मनुष्य में रहता है। मनुष्य मनुष्यत्व का आधार है। पशुत्व पशु में रहता है। पशु पशुत्व का आधार है।

अवच्छेदकता द्वारा वस्तुओं के इन सम्बन्धों का स्पष्ट ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, वरन् समानाधिकरण सम्बन्ध में निहित तत्त्वों का भी उल्लेख स्पष्टतः पाया जाता है। जैसे— घट में घटत्व के साथ-साथ द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि तत्त्व या गुण पाये जाते हैं। लेकिन द्रव्यत्व केवल घट में नहीं पाया जाता, वरन् पट आदि अन्य वस्तुओं में भी पाया जाता है। वस्तुतः संसार की सभी वस्तुएँ प्रायः द्रव्यवान हैं, अर्थात् उनमें द्रव्यत्व निहित है। अतः द्रव्यत्व की व्याप्ति घटत्व की अपेक्षा अधिक है। इसलिए द्रव्यत्व को **अतिरिक्तवृत्तिक** कहा जाता है। परन्तु पृथ्वीत्व (मर्त्तिकात्व) संसार के सभी पदार्थों में नहीं पाया जाता है। मर्त्तिकात्व या पृथ्वीत्व उन्हीं पदार्थों में निहित है जो मिट्टी से बनती है। मिट्टी के घड़ा में मर्त्तिकात्व है, लेकिन सोना के घड़ा में नहीं। अतः मर्त्तिकात्व की व्याप्ति घट से अत्यन्त कम है। इसलिए पृथ्वीत्व को **न्यूनवृत्तिक** कहा जाता है। समानाधिकरण सम्बन्ध में घट में घटत्व, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि वर्त्तमान हैं, लेकिन घट को समझने के लिए 'घटत्व' नामक अवच्छेदकता का ही प्रयोग होता है। घटत्व घट के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाया जाता है। जितना घट है, उतना ही घटत्व है। अतः अवच्छेदकता समव्याप्तिक होती है। इसलिए कहा गया है— अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्मस्यैव अवच्छेदकत्वम्। स्पष्ट है कि समानाधिकरण्य का तात्पर्य समव्याप्तिक नहीं है, क्योंकि घट में घटत्व, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि का एक साथ होना समव्याप्ति की अवधारणा को खंडित करता है। मात्र घट में घटत्व का होना ही समव्याप्ति को पुष्ट करता है।

अवच्छेदक धर्म—अवच्छेदकता के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग से ज्ञात होता है कि अवच्छेदक धर्म द्वारा ही किसी शब्द या वाक्य का विश्लेषण होता है। अवच्छेदक धर्म का अर्थ वह विशेषता है जो अवच्छेदक में पाया जाता है। अवच्छेदक वह है जिससे अवच्छेदकता की क्रिया सम्पन्न होती है। "पर्वत आगयुक्त है" वाक्य में पर्वत और आग दो पद हैं। यहाँ आग पर्वत का विशेषण है और पर्वत विशेष्य है। आग विधेय है और पर्वत उद्देश्य है। विधेय उद्देश्य की विशेषता को बतलाता है। चूँकि आग पर्वत पर है, इसलिए आग आधेय और पर्वत आधार है। इस प्रकार इस वाक्य के अर्थ को समझने के लिए छः अवच्छेदक धर्मों का प्रयोग होता है। आग के संदर्भ तीन अवच्छेदक धर्म और पर्वत के संदर्भ में तीन अवच्छेदक धर्म प्रयुक्त होते हैं। आग का अवच्छेदक या सामान्य गुण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अग्नित्व है। पर्वत का अवच्छेदक या सामान्य गुण पर्वतत्व है। परन्तु अग्नित्व और पर्वतत्व विभिन्न अवच्छेदक धर्मों के रूप में कार्यरत होते हैं। अग्नित्व प्रकारतावच्छेदक धर्म, विधेयतावच्छेदक धर्म तथा आधेयतावच्छेदक धर्म के रूप में कार्यरत है। पर्वतत्व विशेष्यतावच्छेद धर्म, उद्देश्यतावच्छेदक धर्म तथा आधारतावच्छेदक धर्म के रूप में कार्यरत हैं।

"जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है।" इस वाक्य में भी दो पद हैं— धुआं और आग। धुआँ हेतु है। आग साध्य है। किन्तु आग के प्रत्येक उदाहरण में धुआँ का होना आवश्यक नहीं है। जलता लोहा में आग है, धुआं नहीं। यदि लकड़ी भींगी हों, तो धुआं का ही प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार धुआँ-आग का सम्बन्ध उपाधि (शर्त्त) पर अश्रित है। इसे समझने के लिए अवच्छेदक धर्म को समझना आवश्यक है। जब हम धुआँ या आग की बात करते हैं, तो सामान्य धुआँ या सामान्य आग की बात की जाती है। यह उपाधिरहित होता है। अतः उक्त वाक्य का विश्लेषण धुआँ के सामान्य धर्म धूमत्व या आग के सामान्य धर्म अग्नित्व द्वारा किया जाता है। धूमत्व को हेत्वावच्छेदक धर्म कहा जाता है। अग्नित्व को साध्यतावच्छेदक धर्म कहा जाता है। "जहाँ-जहाँ" पद उस स्थान का द्योतक है जहाँ धुआँ के साथ आग की उपस्थिति पायी जाती है। जैसे— पर्वत, रसोई घर आदि। इन स्थानों को पक्ष कहा जाता है। अतएव उक्त वाक्य के अर्थ को समझने के लिए पक्षतावच्छेदक धर्म का भी प्रयोग होता है।

"तन्तु पट का कारण है" वाक्य में तन्तु कारण और पट कार्य है। तन्तु का सामान्य धर्म तन्तुत्व है। पट का सामान्य धर्म पटत्व है। अतएव इस वाक्य का अर्थ जानने के लिए तन्तुत्व नामक अवच्छेदक धर्म तथा पटत्व नामक अवच्छेदक धर्म का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः ये दोनों क्रमशः कारणतावच्छेदक धर्म तथा कार्यतावच्छेदक धर्म कहलाते हैं।

अभावात्मक वाक्य के संदर्भ में जिन अवच्छेदक धर्मों को अपनाया जाता है, वे हैं— अनुयोगितावच्छेदक धर्म, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म आदि। "जमीन पर घड़ा नहीं है" वाक्य में जमीन अनुयोगी है और घड़ा का अभाव प्रतियोगी है। अनुयोगी (जमीन) और प्रतियोगी (घटाभाव) में संयोग या समवाय सम्बन्ध (संसर्ग) पाया जाता है। अतः इस वाक्य का अर्थ जमीनत्व रूपी अनुयोगिता अवच्छेदक धर्म, घटत्वाभावात्व रूपी प्रतियोगिता अवच्छेक धर्म तथा संयोगत्व या समवायत्व अवच्छेदकता धर्म से जाना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अवच्छेदक धर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं क्योंकि ये विभिन्न सन्दर्भों में पदों के विभिन्न सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। प्रमुख अवच्छेदक धर्म हैं— विशेष्यतावच्छेदक धर्म, प्रकारतावच्छेदक धर्म, उद्देश्यतावच्छेदक धर्म, विधेयतावच्छेदक धर्म, आधारतावच्छेदक धर्म, आधेयतावच्छेदक धर्म, हेत्वावच्छेदक धर्म, साध्यतावच्छेदक धर्म, पक्षतावच्छेदक धर्म, कारणतावच्छेदक धर्म, कार्यतावच्छेदक धर्म, अनुयोगितावच्छेदक धर्म तथा प्रतियोगितावच्छेदक धर्म।

अवच्छेदकता द्वारा वाक्यों का विश्लेषण

अयम् घटः (यह घड़ा है।) का विश्लेषण निम्नलिखित संदर्भों में किया जा सकता है— विशेष्यता के रूप में, प्रकारता के रूप में तथा संसर्गता के रूप में। इस वाक्य में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

''यह'' पद उद्देश्य होने से विशेष्य है। ''घड़ा'' पद विधेय होने से यह का विशेषण या प्रकार है। ''है'' क्रिया यह और घड़ा के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह तादात्म्य सम्बन्ध है। अतएव यह और घड़ा के विषय में जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह है कि (i) यह किसी वस्तु को निर्देश करता है जिसमें विशेष्यता पायी जाती है— इदमर्थनिष्ठ विशेष्यता। (ii) घड़ा में निहित विशेषणता या प्रकारता— घटनिष्ठ प्रकारता। (iii) यह और घड़ा में निहित तादात्म्य सम्बन्ध— तादात्म्यनिष्ठ संसर्गता। स्पष्ट है कि उक्त वाक्य के विश्लेषण से यह विशेष्य रूप में, घड़ा प्रकार या विशेषण रूप में और इन दोनों का सम्बन्ध तादात्म्य रूप में ज्ञात होता है। विशेष्यता और प्रकारता परस्पर आकांक्षा पद हैं। ये एक-दूसरे को निरूपित या निर्धारित करते हैं। प्रकार (विशेषण) सदैव विशेष्य से संम्बन्धित रहता है। प्रकारता संसर्गता (सम्बन्ध) द्वारा निरूपित होती है। इस प्रकार तीनों विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता परस्पर एक दूसरे को निरूपित या निर्धारित करते हैं। अतः इनमें निरुप्यनिरूपक भाव पाया जाता है। अब, ''यह घड़ा है'' वाक्य का अर्थ है—

तादात्म्यनिष्ठसंसर्गतानिरूपित घटनिष्ठप्रकारतानिरूपित इदमनिष्ठविशेष्यतासलि ज्ञानम् अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से निर्धारित घड़ा रूपी विशेषण से निरूपित यह रूपी विशेष्यता से निर्देशित होने वाली वस्तु का ज्ञानं **यह घड़ा है।**

अभी भी वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है, क्योंकि अयम् घटः (यह घड़ा है) के दो अर्थ होते हैं— (i) यह घड़ा है और (ii) यह घड़ा। पहला अर्थ में यह विशेष्य और घड़ा विशेषण है। दूसरा अर्थ में घड़ा विशेष्य है जिसका विशेषण यह है। अतः यहाँ 'घड़ा' पद का दो अर्थ हो जाता है और ''यह'' पद का भी दो अर्थ होता है। पहला अर्थ है— घटनिष्ठप्रकारतानिरूपित इदमनिष्ठ विशेष्यता। दूसरा अर्थ है— इदमनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'घड़ा' शब्द जो बिल्कुल साधारण और आसानी से समझ में आनेवाला शब्द है, का अर्थ घटनिष्ठ विशेष्यता या प्रकारता के रूप में क्यों लिया गया? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि ''घड़ा'' शब्द से स्पष्ट नहीं होता है कि इस शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हो रहा है या विशेष्य के रूप में। इसे स्पष्ट करने के लिए घड़ा के दोनों अर्थों— घटनिष्ठ विशेष्यता और घटनिष्ठ प्रकारता— का प्रयोग आवश्यक है।

नीलो घटः (घड़ा नीला है।)—इस वाक्य में घड़ा विशेष्य है और नीला विशेषण (प्रकार) है। घड़ा में घटत्व निहित है। घटत्व और घड़ा में समवाय सम्बन्ध पाया जाता है। घटत्व के बिना घड़ा नहीं होता और घड़ा के बिना घटत्व नहीं पाया जाता है। अतएव घड़ा का अर्थ होता है— समवाय सम्बन्धावच्छिन्न घटनिष्ठ विशेष्यता। इसी प्रकार नीला का अर्थ भी समवाय सम्बन्ध रूपी अवच्छेदकता द्वारा जाना जाता है। नीला में नीलत्व निहित रहता है। नीला और नीलत्व में समवाय सम्बन्ध पाया जाता है। नीला के बिना नीलत्व नहीं होता है और न ही नीलत्व के बिना नीला होता है। अतएव विशेषण के रूप में नीला का अर्थ है कि समवाय सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता। किन्तु नीलत्व के संदर्भ में नीला विशेष्य है और नीलत्व विशेषण है। घड़ा के संदर्भ में नीला विशेषण है। अतः विशेष्य के रूप में नीला का अर्थ है— विशेष्यतावच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता। स्पष्ट है कि नीला रंग का आधार नीली वस्तु (घड़ा) है और नीलत्व का आधार नीला रंग है। घड़ा और नीला, नीला और नीलत्व में तादात्म्य है। अतः ''घड़ा नीला है'' वाक्य का अर्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होगा— "समवाय सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न विशेष्यतावच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित समवाय सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यतासलि ज्ञानम्" अर्थात समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न नीलत्व से अवच्छिन्न तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा अवच्छिन्न विशेष्यता से अवच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता (विशेषणता) द्वारा निरूपित समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता का ज्ञान "घड़ा नीला है" है। स्पष्ट है कि इस वाक्य के विश्लेषण में संसर्गता (समवाय सम्बन्ध), विशेष्यता और प्रकारतारूपी अवच्छेदक धर्मों का प्रयोग किया गया है और वाक्य के अर्थ को स्पष्ट किया गया है।

घटवद् भूतलम् (जमीन घटयुक्त है।)—इस वाक्य में जमीन विशेष्य है और घट विशेषण है। यहाँ जमीन और घड़ा संयोग सम्बन्ध से जुड़ा है। यह आवश्यक नहीं है कि घड़ा जमीन पर हमेशा रहे। अतः जमीन का अर्थ भूतलनिष्ठ विशेष्यता है, तो घड़ा का अर्थ घटनिष्ठ प्रकारता है। जमीन की विशेषता जमीनत्व (भूतलत्व) है जो सदैव जमीन के साथ रहता है। इसी प्रकार घड़ा की विशेषता घटत्व है जो घड़ा के साथ सदैव रहता है। भूतलत्व और घटत्व के बीच जो सम्बन्ध पाया जाता है, वह सदैव नहीं रहता बल्कि संयोग मात्र होता है। अतः "जमीन घटयुक्त है" वाक्य का अर्थ है— "संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यतावच्छिन्न प्रकारता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न भूतलनिष्ठ विशेष्यतासलि ज्ञानम्" अर्थात् संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न घटत्व से अवच्छिन्न घटनिष्ठ प्रकारता (विशेषणता) द्वारा निरूपित सम्बन्धित विशेष्यता से अवच्छिन्न प्रकारता द्वारा निरूपित भूतलत्व से अवच्छिन्न भूतलनिष्ठ विशेष्यता का ज्ञान "जमीन घटयुक्त है" है। इस वाक्य के विश्लेषण में जिन अवच्छेदकताओं का प्रयोग किया गया है, वे हैं— संसर्गता (संयोग सम्बन्ध), विशेष्यता और प्रकारता।

नीलघटवद् भूतलम् (जमीन नीला घड़ायुक्त है।)—इस वाक्य में मूल रूप से तीन पद पाये जाते हैं— जमीन, नीला और घड़ा। लेकिन जब इन पदों का विश्लेषण किया जाता है, तो उनमें निम्नलिखित बातें पायी जाती हैं—

(क) विशेष्यता के रूप में जमीन— भूतलनिष्ठ विशेष्यता।
(ख) जमीन में निहित विशेषण जमीनत्व— भूतलत्वनिष्ठ अवच्छेदकता।
(ग) घड़ा में निहित विशेषणता— घटनिष्ठ प्रकारता।
(घ) घड़ा में निहित विशेषणता का विशेषण— घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता।
(ङ) नीला के सम्बन्ध से घड़ा की विशेष्यता— घटनिष्ठ विशेष्यता।
(च) नीला में निहित विशेषणता— नीलनिष्ठ प्रकारता।
(छ) नीला में निहित विशेषणता का विशेषण— नीलत्वनिष्ठ अवच्छेदकता।
(ज) घड़ा में 'वद्' प्रत्यय लगने से उत्पन्न सम्बन्ध— सम्बन्धित्वनिष्ठ अवच्छेदकता।
(झ) घड़ा और जमीन में संयोग सम्बन्ध का होना— संयोगनिष्ठ अवच्छेदकता।
(ङ) नीला और नीलत्व में समवाय सम्बन्ध का होना— समवायनिष्ठ अवच्छेदकता।
(ट) नीला और नीला घड़ा में तादात्म्य सम्बन्ध का होना— तादात्म्यनिष्ठ अवच्छेदकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त बातों के आधार पर ''जमीन नीला घड़ायुक्त है'' वाक्य का अर्थ होगा— ''तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यतावच्छिन्न संयोग सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यतावच्छिन्न प्रकारता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न भूतलनिष्ठ विशेष्यतासलि ज्ञानम्'' अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न नीलत्व से अवच्छिन्न प्रकारता (विशेषणता) द्वारा निरूपित घटत्व से अवच्छिन्न विशेष्यता द्वारा अवच्छिन्न संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित सम्बन्धित विशेष्यता से अवच्छिन्न प्रकारता द्वारा निरूपित भूतलत्व से अवच्छिन्न भूतलनिष्ठ विशेष्यता का ज्ञान ''जमीन नीला घड़ायुक्त है'' है। इस वाक्य के विश्लेषण में जिन अवच्छेदकताओं का प्रयोग हुआ है, वे हैं— संसर्गता (संयोग सम्बन्ध, तादात्म्य सम्बन्ध), प्रकारता तथा विशेष्यता।

''स्कॉट रोट वेवरली'' (स्कॉट ने वेवरली लिखा)—इस वाक्य का विश्लेषण बर्टेड रसेल ने अपनी पुस्तक ''इन्ट्रोडक्शन टू मैथेमेटिकल फिलॉसफी'' में निम्नलिखित तरीकों से किया है। इस वाक्य का साधारण अर्थ है कि स्कॉट वेवरली का लेखक है। अब इस वाक्य के कम-से-कम तीन अर्थ होंगे—

(क) कम-से-कम एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा।

(ख) अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा।

(ग) जिसने भी वेवरली लिखा, वह स्कॉट था।

अब, यदि नव्य न्याय के अनुसार इस वाक्य का विश्लेषण किया जाय, तो इसके मात्र तीन अर्थ नहीं होंगे। बल्कि अनेक अर्थ होंगे। इस वाक्य का संस्कृत भाषा में रूपान्तरण होगा— स्कॉटः वेवरली ग्रन्थम् कृतवान्। स्कॉट एक व्यक्ति है जिसने वेवरली नामक ग्रन्थ की रचना अतीत काल में की। अतः इस वाक्य का विस्तार रूप है— वेवरली ग्रन्थनिष्ठ विषयता निरूपक भूतकालिक कृतिमान् एकत्वविशिष्ट स्कॉटः अर्थात् वेवरली ग्रन्थ नामक विषयरूपी अतीतकालीन रचना एकत्व से आविष्ट स्कॉट ने की। इस वाक्य में उद्देश्य स्कॉट है और विधेय कृति है। स्कॉट को मुख्य विशेष्य और कृति को मुख्य प्रकार कहा जाता है। इन दोनों के मध्य अन्य विशेष्य और अन्य प्रकार पाये जाते हैं। जैसे स्कॉट के संदर्भ में कृति प्रकारता का कार्य करती है, लेकिन वह स्वयं भूतकाल से आविष्ट है अर्थात् भूतकाल प्रकार है और कृति विशेष्य है। इसी प्रकार ग्रंथ नामक विषय से कृति निरूपित होती है, अर्थात् कृति विशेष्य है और ग्रंथ विशेषण या प्रकार है। पुनः ग्रंथ वेवरली नामक विशेषण से विशिष्ट है अर्थात् ग्रंथ विशेष्य है और वेवरली विशेषण या प्रकार। इस प्रकार इस वाक्य के विश्लेषण से विशेष्य-विशेषण या उद्देश्य-विधेय की शृंखला दीख पड़ती है। इस शृंखला के आधार पर इस वाक्य का विश्लेषण निम्नलिखित तत्त्वों, जो इस वाक्य के अवयव हैं, में किया जाता है—

(i) स्कॉट में निहित विशेष्यता— स्कॉटनिष्ठ विशेष्यता

(ii) स्कॉटत्व से विशिष्ट— स्कॉटत्वावच्छिन्न

(iii) एक में निहित विशेषण से निरूपित— एकनिष्ठ प्रकारतानिरूपित

(iv) एकत्व से विशिष्ट— एकत्वावच्छिन्न

(v) समवाय सम्बन्ध से सीमित एकत्व— समवाय सम्बन्धावच्छिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(vi) कृति में निहित विशेषण— कृतिनिष्ठ प्रकारता
(vii) कृतित्व से विशिष्ट— कृतित्वावच्छिन्न
(viii) समवाय सम्बन्ध से सीमित— समवाय सम्बन्धावच्छिन्न
(ix) भूतकाल में निहित विशेषण से निर्धारित— भूतकालनिष्ठ प्रकारता निरूपित
(x) भूतकालत्व से सीमित— भूतकालत्वावच्छिन्न
(xi) ससीमत्व के सम्बन्ध से सीमित— परिच्छेदकत्व सम्बन्धावच्छिन्न
(xii) कृति में निहित विशेष्यता— कृतिनिष्ठ विशेष्यता
(xiii) विशेष्यत्व से आविष्ट— विशेष्यत्वावच्छिन्न
(xiv) विषय में निहित विशेषणता— विषयनिष्ठ प्रकारता
(xv) विषयता से आविष्ट— विषयत्वावच्छिन्न
(xvi) निरूपकत्व के सम्बन्ध से सीमित— निरूपकत्व सम्बन्धावच्छिन्न
(xvii) विषय में निहित विषयता— विषयनिष्ठ विशेष्यता
(xviii) विशेष्यता से आविष्ट— विशेष्यत्वावच्छिन्न
(xix) ग्रन्थ में निहित विशेषणता— ग्रंथनिष्ठ प्रकारता
(xx) ग्रन्थत्व से आविष्ट— ग्रन्थत्वावच्छिन्न
(xxi) अन्तर्निहित सम्बन्ध से सीमित— निष्ठत्वसम्बंन्धावच्छिन्न
(xxii) ग्रन्थ में निहित विशेष्यता— ग्रन्थनिष्ठ विशेष्यता
(xxiii) विशेष्यता से आविष्ट— विशेष्यत्वावच्छिन्न
(xxiv) वेवरली में निहित विशेषणता— वेवरलीनिष्ठ प्रकारता
(xxv) वेवरलीत्व से आविष्ट— वेवरलीत्वावच्छिन्न
(xxvi) तादात्म्य सम्बन्ध से सीमित— तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न

उपर्युक्त तत्त्वों या अवयवों के आधार पर "स्कॉट ने वेवरली लिखा" वाक्य का अर्थ है— "तादात्म्यं सम्बन्धावच्छिन्न वेवरलीत्वावच्छिन्न वेवरलीनिष्ठ प्रकारता निरूपित ग्रन्थत्वावच्छिन्न निष्ठसम्बन्धावच्छिन्न ग्रन्थत्वावच्छिन्न 'ग्रन्थनिष्ठ प्रकारता निरूपित विषयत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न विषयनिष्ठ प्रकारतानिरूपित भूतकालत्वावच्छिन्न भूतकालनिष्ठ प्रकारता निरूपित कृतित्वावच्छिन्न विशेष्यता समवाय सम्बन्धावच्छिन्न कृतित्वावच्छिन्न कृतिनिष्ठ प्रकारता निरूपित सम्बन्धावच्छिन्न एकत्वावच्छिन्न एकनिष्ठ प्रकारता निरूपित च य स्कॉटत्वावच्छिन्न स्कॉटनिष्ठ विशेष्यता तदृश विशेष्यतासलि ज्ञानम्" अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त वेवरलीत्व से आविष्ट वेवरलीनिष्ठ प्रकारता (विशेषणता) से निरूपित ग्रन्थत्व से आविष्ट निष्ठ सम्बन्ध से अवच्छिन्न ग्रन्थत्व से आविष्ट ग्रन्थनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विषयत्व द्वारा अवच्छिन्न विशेष्यत्व से आविष्ट विषयनिष्ठ प्रकारता से निरूपित भूतकालत्व से आविष्ट भूतकालनिष्ठ प्रकारता से निरूपित कृतित्व द्वारा अवच्छिन्न विशेष्यता समवाय सम्बन्ध से आविष्ट कृतित्व द्वारा अवच्छिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कृतिनिष्ठ प्रकारता से निरूपित सम्बन्ध से आविष्ट एकत्व द्वारा अवच्छिन्न एकनिष्ठ प्रकारता से निरूपित यह स्कॉटत्व से अवच्छिन्न स्कॉटनिष्ठ विशेष्यता सदृश विशेष्यता का ज्ञान ''स्कॉट ने वेवरली लिखा' है।

''स्कॉट ने वेवरली लिखा'' वाक्य के इस अर्थ में कई विशेष्यता और कई प्रकारता का प्रयोग किया गया। साथ ही, समवाय और तादात्म्य सम्बन्ध भूतकाल, वेवरली, स्कॉट और लिखना में दिखलाया गया है। वस्तुतः इस वाक्य के विश्लेषण में भी मूल रूप से विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता नामक अवच्छेदकताओं का ही प्रयोग किया गया है। पंडित शशिनाथ झा ने अपनी पुस्तक ''त्रितलावच्छेदकतावाद'' में ''घड़ा नीला है'' वाक्य के विश्लेषण के क्रम में बतलाया है कि इस वाक्य में 92 (बिरानवे) तत्त्व या अवयव हैं। ये सभी तत्त्व मिलकर इस वाक्य का अर्थ प्रदान करते हैं।[163]

□

163. पंडित शशिनाथ झा, त्रितलावच्छेदकतावाद, पृ॰ 25
ध्यातव्य : रसेल द्वारा उद्धृत उदाहरण प्रो॰ हरिमोहन झा की पुस्तक, ट्रेन्ड्स ऑफ लिंग्विस्टिक एनालासिस इन इंडियन फिलॉसफी'' से लिया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एकादश अध्याय

निषेध

निषेध की परिभाषा

भारतीय भाषाविश्लेषण के अन्तर्गत निषेध की समस्या एक प्रमुख समस्या है। साधारणतः निषेध पद नकारात्मकता का बोध कराता है। परन्तु नकार (अस्वीकार) उसी का सम्भव होता है जिसका भाव (अस्तित्व) होता है, अर्थात् निषेध के सम्प्रत्यय को समझने के लिए भाव का सम्प्रत्यय भी जानना आवश्यक है। "जमीन पर घड़ा नहीं है" वाक्य में जमीन का भाव दिखलाया गया है और घड़ा का अभाव बतलाया गया है। घड़ा का अभाव का तात्पर्य है कि घड़ा की उपस्थिति का नहीं होना। घड़ा की उपस्थिति घड़ा का भाव है। अतः अभाव का अर्थ भाव का निषेध (अस्वीकार) है। तात्पर्य है कि भाव और अभाव दोनों पद विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक को दूसरे में परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए "घड़ा है" को "घड़ा का अभाव नहीं है'-' वाक्य में बदला जा सकता है। "घड़ा है" भावात्मक वाक्य है, लेकिन "घड़ा का अभाव नहीं है" निषेधात्मक वाक्य है। परन्तु दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है—घड़ा का होना अर्थात् घड़ा का भाव। इसी तरह, "घड़ा नहीं है" वाक्य को "घड़ा का अभाव (घटाभाव) हैं" में बदला जा सकता है। "घड़ा नहीं है" वाक्य निषेधात्मक है, जबकि "घड़ा का अभाव है' भावात्मक वाक्य है। स्पष्ट है कि भाव और अभाव में कोई विरोध नहीं है। अरस्तू के तर्कशास्त्र के अनुसार भावात्मक तर्कवाक्य का प्रतिवर्त्तन निषेधात्मक तर्कवाक्य में होता है, और निषेधात्मक तर्कवाक्य का प्रतिवर्त्तन भावात्मक तर्कवाक्य में होता है। अतएव भाव-अभाव का एक दूसरे में परिवर्तन अरस्तू के प्रतिवर्तन के समान है। फिर भी, अभाव का ज्ञान उसके प्रतियोगी अर्थात् भाव के बिना नहीं हो सकता। घड़ा का अभाव को तबतक नहीं जाना जा सकता, जबतक की घड़ा क्या है, को नहीं जाना जाता है अर्थात् घड़ा के भाव का ज्ञान होने पर ही घड़ा के अभाव का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में अभाव का ज्ञान भाव के ज्ञान पर निर्भर करता है। लेकिन भाव का ज्ञान अभाव के ज्ञान पर निर्भर नही करता है। घड़ा का भाव घड़ा के अभाव पर निर्भर नहीं है, जबकि घड़ा का नहीं होना (अभाव) घड़ा के होने (भाव) पर निर्भर करता है। वस्तुतः भाव स्वतंत्र है, जबकि अभाव परतंत्र है।

जिस प्रकार संयोग और समवाय का ज्ञान सापेक्ष होता है, उसी प्रकार भाव और अभाव का ज्ञान भी सापेक्ष है। संयोग और समवाय दो भावात्मक पदों के बीच का सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध तभी होते हैं जब दोनों पद वर्तमान हों, जैसे— नदी और नाव का सम्बन्ध (संयोग), मेज और मेजत्व का सम्बन्ध (समवाय)। परन्तु अभाव वह सापेक्ष ज्ञान है जिसमें भाव पदार्थ की अनुपस्थिति पायी जाती है। जैसे— घटाभाव का ज्ञान। यहाँ घड़ा की अनुपस्थिति का ज्ञान होता है। घड़ा, जो भाव पदार्थ है, घड़ा के अभाव को निरूपित करता है। इसलिए घड़ा को अनुयोगी और घड़ा के अभाव को प्रतियोगी कहा जाता है। अनुयोगी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसे कहते हैं जिसकी उपस्थिति रहती है। प्रतियोगी वह है जो अनुयोगी में अनुपस्थिति रहता है। "चाय में चीनी नहीं है" वाक्य में चाय अनुयोगी है, क्योंकि चाय का भाव है। परन्तु चाय में चीनी का अभाव है। इसलिए चीनी प्रतियोगी है। इसी प्रकार, "जमीन पर घड़ा नहीं है" वाक्य में जमीन अनुयोगी और घड़ा प्रतियोगी है। जमीन का भाव है, घड़ा का अभाव है।

निषेध के तत्त्व—स्पष्ट है कि निषेध का सम्प्रत्यय स्वतंत्र सम्प्रत्यय नहीं है, बल्कि भाव-अभाव रूप में युग्म या सापेक्ष सम्प्रत्यय है। इस सम्प्रत्यय को समझने के लिए उसमें निहित तत्त्वों को जानना आवश्यक है। वे तत्त्व हैं— अनुयोगिता, प्रतियोगिता, अनुयोगितावच्छेक धर्म, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तथा प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध।

अनुयोगिता—निषेध भाव के बिना नहीं हो सकता। इसलिए निषेध का प्रथम तत्त्व अनुयोगिता है। यह वह आधार है जिसमें किसी वस्तु का अभाव पाया जाता है। "जमीन पर घड़ा नहीं है" के उदाहरण में 'जमीन' अनुयोगिता है। जमीन घड़ा के नहीं होने का आधार है। अतः जमीन का अर्थ है— जमीनयुक्त अनुयोगिता का अभाव (भूतलनिष्ठ अनुयोगिताक अभाव)। घड़ा के अभाव का ज्ञान जमीन में निहित है।

प्रतियोगिता—भाव का नहीं होना अर्थात् अभाव को प्रतियोगी कहते हैं। घड़ा का नहीं होना अर्थात् घड़ा में निहित अभाव प्रतियोगिता है। इसलिए ऊपर के वाक्य में प्रयुक्त "घड़ा नहीं है" पद अर्थात् घटाभाव का अर्थ है कि घड़ा से युक्त प्रतियोगिता का अभाव (घटनिष्ठ प्रतियोगिताक अभाव)।

अनुयोगितावच्छेदक धर्म—अनुयोगितावच्छेदक धर्म अनुयोगिता की वह विशेषता है जो अनुयोगी पद के अर्थ को स्पष्ट रूप से बतलाता है। जैसे— ऊपर के उदाहरण में अनुयोगी पद 'जमीन' है। किन्तु 'जमीन' कहने मात्र से स्पष्ट नहीं होता है कि संसार के सभी जमीन के विषय में कहा जा रहा है या किसी खास जमीन के विषय में। ऐसी स्थिति में "जमीन पर घड़ा नहीं है" का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए अनुयोगितावच्छेदक धर्म की सहायता लेनी पड़ती है। यदि जमीन का अर्थ सभी (सामान्य) जमीन हो, तो जमीन का तात्पर्य 'जमीनत्व' (भूतलत्व) होगा। यदि जमीन का अर्थ एक खास (विशेष) जमीन हो, तो जमीन का तात्पर्य 'इस जमीनत्व' (एतद्भूतलत्व) होगा। कहने का तात्पर्य है कि उक्त वाक्य का कम-से-कम दो अर्थ है—(क) सभी जमीन पर घड़ा का अभाव है। (ख) एक विशेष जमीन पर घड़ा का अभाव है।

प्रतियोगितावच्छेदक धर्म—प्रतियोगितावच्छेदक धर्म प्रतियोगिता की वह विशेषता है जो प्रतियोगी पद के अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट करता है। ऊपर के उदाहरण में 'घट' प्रतियोगी पद है, क्योंकि उसका अभाव अनुयोगी (जमीन) में है। यह स्पष्ट नहीं है कि सभी घड़ा का अभाव है या एक खास घड़ा का अभाव है। इसे स्पष्ट करने के लिए प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का प्रयोग किया जाता है। यदि घड़ा का अर्थ सभी (सामान्य) घड़ा से लिया जाय, तो घड़ा का तात्पर्य 'घटत्व' होगा। यदि घड़ा का अर्थ एक खास (विशेष) घड़ा से लिया जाय, तो घड़ा का तात्पर्य 'एतद्घटत्व' होगा। अतः प्रतियोगितावच्छेदक धर्म की दृष्टि से उक्त वाक्य के कम-से-कम दो अर्थ हैं— (क) जमीन पर सभी घड़ा का अभाव है। (ख) जमीन पर विशेष (खास) घड़ा का अभाव है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध—किसी वाक्य में कम-से-कम दो पद होते हैं— अनुयोगी और प्रतियोगी। इन पदों में सम्बन्ध पाया जाता है। चूँकि प्रतियोगी वह है जिसका अभाव अनुयोगी में रहता है, इसलिए यह सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध दो प्रकार का होता है— संयोग और समवाय। अतः उक्त उदाहरण में जमीन और घट का सम्बन्ध या तो संयोग सम्बन्ध होगा या समवाय सम्बन्ध। अतएव प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध की दृष्टि से भी उक्त वाक्य के कम-से-कम दो अर्थ होंगे—

(क) संयोग सम्बन्ध से जमीन पर घड़ा का अभाव है।

(ख) समवाय सम्बन्ध से जमीन पर घड़ा का अभाव है।

स्पष्ट है कि किसी निषेधात्मक वाक्य के अर्थ को स्पष्ट रूप से जानने के लिए निषेध के उपर्युक्त पांच तत्त्वों की अनिवार्यता होती है। इन तत्त्वों के आधार पर "जमीन पर घड़ा नहीं है" के निम्नलिखित अर्थ होंगे—

(क) संयोग सम्बन्ध से सभी जमीन पर सभी घड़ा नहीं है।

(ख) संयोग सम्बन्ध से एक विशेष जमीन पर सभी घड़ा नहीं है।

(ग) संयोग सम्बन्ध से सभी जमीन पर एक विशेष घड़ा नहीं है।

(घ) संयोग सम्बन्ध से एक विशेष जमीन पर एक विशेष घड़ा नहीं है।

(च) समवाय सम्बन्ध से सभी जमीन पर सभी घड़ा नहीं है।

(छ) समवाय सम्बन्ध से एक विशेष जमीन पर सभी घड़ा नहीं है।

(ज) समवाय सम्बन्ध से सभी जमीन पर एक विशेष घड़ा नहीं है।

(झ) समवाय सम्बन्ध से एक विशेष जमीन पर एक विशेष घड़ा नहीं है।

निषेध का अर्थ—निषेध की परिभाषा और उसके तत्त्वों से स्पष्ट है कि निषेध भाव में अभाव का नाम है। परन्तु वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभाव एक स्वतंत्र पदार्थ है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक कणाद ने मात्र छः पदार्थों का उल्लेख किया है। वे पदार्थ हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। गुण और कर्म द्रव्य में ही निहित रहते हैं। सामान्य विशेष में निहित रहता है। द्रव्य में सामान्य पाया जाता है। इन सभी पदार्थों में सम्बन्ध पाया जाता है। इस सम्बन्ध के लिए समवाय की आवश्यकता पड़ती है। ये सभी छः पदार्थ भाव पदार्थ हैं जो स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। कणाद के बाद आनेवाले वैशेषिककारों ने माना कि जिस प्रकार भाव पदार्थ की सत्ता है, उसी प्रकार अभाव पदार्थ की भी स्वतंत्र सत्ता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ वह है जो अभिधेय और प्रमेय होता है। अभिधेय उसे कहते हैं जिसे नाम दिया जाता है या जो नामयोग्य होता है। प्रमेय वह है जो ज्ञान का विषय होता है या ज्ञान का विषय बनने योग्य होता है। अभाव नामयोग्य और ज्ञानयोग्य दोनों है। अतः अभाव एक पदार्थ है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ परमसत्ता है। इसलिए पदार्थ के रूप में अभाव भी परमसत्ता है। इस दृष्टिकोण से अभाव का स्वरूप तात्त्विक होता है। दूसरे शब्दों में, वैशेषिक दर्शन के अनुसार निषेध एक तत्त्वमीमांसीय सत्ता है जिसे अभाव की संज्ञा दी जाती है। अभाव का तत्त्वमीमांसीय अर्थ है— अनुयोगी में प्रतियोगी की अनुपस्थिति। अनुयोगी भाव पदार्थ है, प्रतियोगी अभाव पदार्थ है। स्पष्ट है कि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से भी "अभाव स्वतंत्र सत्ता होते हुए भी भाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के बिना'' अस्तित्ववान नहीं हो सकता।

तत्त्वमीमांसीय अर्थ में निषेध अभाव का पर्याय है। परन्तु भाषाविश्लेषण की दृष्टि से निषेध का तात्पर्य उस निषेधात्मक तर्कवाक्य से है जिसमें उद्देश्य और विधेय के बीच मेल का सम्बन्ध नहीं होता है। ''चाय में चीनी नहीं है''— इस वाक्य में चीनी प्रतियोगी है और चाय अनुयोगी है। ये दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं। एक में दूसरे की अनुपस्थिति है। अतः यहाँ 'चीनी का नहीं होना' तत्त्वमीमांसीय अर्थ में निषेध है, अर्थात् यह अभाव का उदाहरण है। परन्तु ''यहाँ घड़ा नहीं है''— वाक्य में 'यहाँ' उद्देश्य और 'घड़ा नहीं है' विधेय है। उद्देश्य में विधेय की अनुपस्थिति दिखलायी गयी है अर्थात् उद्देश्य (यहाँ) और विधेय (घड़ा) में कोई मेल नहीं है। घड़ा का नहीं होना निषेध है। यह निषेध तर्कवाक्य की दृष्टि से होता है। अतएव ''यहाँ घड़ा नहीं है'' वाक्य में जिस निषेध का प्रतिपादन होता है, वह तर्कशास्त्रीय निषेध है। इसे भाषाशास्त्रीय निषेध भी कहा जाता है, क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ का विश्लेषण कर ही उद्देश्य-विधेय में मेल का नहीं होना बतलाया जाता है। स्पष्ट है कि निषेध का कम-से-कम दो अर्थ है— तत्त्वमीमांसीय निषेध तथा तर्कशास्त्रीय या भाषाशास्त्रीय निषेध। नव्य न्याय दर्शन भाषाशास्त्रीय या तर्कशास्त्रीय अर्थ के रूप में निषेध को स्वीकारता है। जहाँ तक बौद्ध दर्शन का प्रश्न है, बौद्ध दर्शन में भी निषेध का स्वरूप तत्त्वमीमांसीय और तर्कशास्त्रीय दोनों रूपों में दीखता है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन निषेध को एक तर्कशास्त्रीय पद्धति के रूप में अपनाकर 'सामान्य' नामक परमतत्त्व की व्याख्या करता है। साथ ही, निषेध की विधि द्वारा ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बतलाता है। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन में निषेध एक तार्किक विधि के रूप में अपनाया गया है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार निषेध (अभाव) का प्रकार

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभाव दो प्रकार के होते हैं— संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। पुनः, संसर्गाभाव के चार भेद किये गये हैं— प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा सामयिकाभाव। इन भेदों को निम्नलिखित तालिका द्वारा दिखलाया जा सकता है—

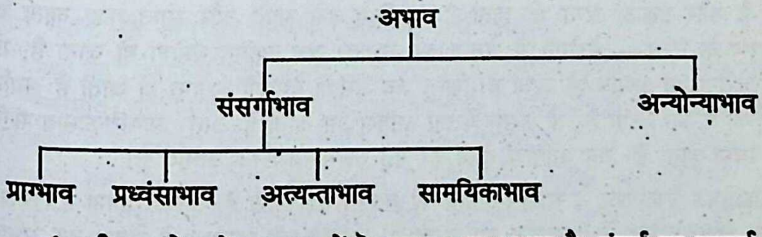

संसर्गाभाव दो पदों या वस्तुओं के सम्बन्ध का अभाव है। संसर्ग का तात्पर्य है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में होना। जैसे— कटोरा में शहद है। कटोरा और शहद के बीच संसर्ग या सम्बन्ध है। जब कटोरा से शहद निकाल लिया जाता है या कटोरा का शहद समाप्त हो जाता है, तब कटोरा और शहद में कोई सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् उन दोनों में संसर्ग का अभाव हो जाता है। शहद में मिठास है— यह वाक्य बतलाता है कि शहद और मिठास में ऐसा संसर्ग या सम्बन्ध है जो कभी समाप्त नहीं होता है। जबतक शहद है, तबतक मिठास है। शहद के समाप्त होने पर मिठास भी समाप्त हो जात है। स्पष्ट है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि संसर्ग दो प्रकार का होता है— संयोग और समवाय। अतः संसर्गाभाव का तात्पर्य संयोग सम्बन्ध का अभाव या समवाय सम्बन्ध का अभाव है। कटोरा में शहद नहीं है— यह संयोग संसर्गाभाव है। नमक में मिठास नहीं है— यह समवाय संसर्गाभाव है।

प्राग्भाव वह है जिसमें कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में नहीं रहता है। दूसरे शब्दों में, कारण में उत्पत्तिपूर्व कार्य का अभाव प्राग्भाव है। जैसे— मिट्टी में घड़ा की उत्पत्ति के पूर्व घड़ा का नहीं होना। जबतक मिट्टी से घड़ा नहीं बन जाता है, तबतक मिट्टी में घड़ा का अभाव रहता है। परन्तु घड़ा बन जाने पर इस अभाव का अन्त हो जाता है। किन्तु मिट्टी में घड़ा का अभाव कब से है— यह बतलाना असम्भव है। इसलिए प्राग्भाव को अनादि और सान्त कहा जाता है। कोई नहीं जानता है कि कारण में कार्य का अभाव कब शुरू हुआ। लेकिन इस अभाव के अन्त को जाना जाता है। यही कारण है कि अन्नमभट्ट ने कार्य को 'प्राग्भाव प्रध्वंसक'' कहा है— प्राग्भाव प्रतिध्वंसी कार्यम्।

प्रध्वंसाभाव वह है जिसमें कार्य के विनाश होने पर कार्य का अभाव आरम्भ होता है। दूसरे शब्दों में, कार्य की उत्पत्ति के पश्चात कार्य का विनष्ट होना प्रध्वंसाभाव है। जब घड़ा टूट जाता है, टुकड़ों में बंट जाता है, तो पुनः उस घड़ा का निर्माण नहीं हो सकता। नया घड़ा बन सकता है, लेकिन टूटे हुए घड़ा का पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। अतः प्रध्वंसाभाव का अन्त नहीं होता है, बल्कि उसकी शुरुआत होती है। तात्पर्य है कि प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है।

अत्यन्ताभाव वह अभाव है जो तीनों कालों में पाया जाता है। अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सभी कालों में यह अभाव रहता है। इसलिए इसे 'त्रैकालिक अभाव'' कहा जाता है। वायु में रंग नहीं है— इस वाक्य में बतलाया गया है कि वायु रंगहीन होता है, अर्थात् वायु में सदैव रंग का अभाव रहता है। इसलिए इसे अत्यन्त या पूर्ण अभाव कहा जाता है। पूर्ण अभाव होने से यह नित्य होता है। कोई नहीं जानता है कि इस अभाव की शुरुआत कब हुई और इस अभाव का अन्त कब होगा। वस्तुतः यह अनादि और अनन्त है।

सामयिकाभाव वह है जो कुछ समय के लिए होता है। इस अभाव की शुरुआत होती है और इसका अन्त भी होता है। इसलिए इसे सादि और सान्त कहा जाता है। उदाहरण के लिए— बेहोशी में चेतना का अभाव। जब व्यक्ति बेहोश हो जाता है, तो उसमें चेतना का अभाव हो जाता है। किन्तु जब उसकी बेहोशी समाप्त हो जाती है अर्थात् वह होश में आ जाता है, तो उसमें चेतना वापिस आ जाती है। अतः सामयिकाभाव सादि और सान्त होता है। यह अनित्य होता है। यह वर्त्तमानकालिक अभाव है।

कतिपय नैयायिकों ने सामयिकाभाव को अभाव नहीं माना है। उनका मानना है कि यह अभाव अत्यन्ताभाव के अन्तर्गत आ जाता है। बेहोशी की अवस्था में चेतना का अभाव कुछ क्षण के लिए होता है। परन्तु मृत्यु की अवस्था में चेतना का पूर्ण अभाव होता है। ऐसी स्थिति में चेतना का अभाव सामयिकाभाव होगा या अत्यन्ताभाव— यह विवादास्पद है। वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर विश्वनाथ पंचानन ने "सिद्धान्त मुक्तावली" में "जमीन पर घड़ा नहीं है" के उदाहरण द्वारा दिया है। जमीन पर घड़ा का अभाव नित्य है, त्रैकालिक है। यदि कुछ समय के लिए जमीन पर घड़ा रख दिया जाता है, तब भी जमीन पर घड़ा का अभाव रहता है। जमीन के एक छोटा-सा अंश ही घड़ायुक्त होता है। अतः मूल रूप में जमीन पर घड़ा नहीं होता है। इसी प्रकार चेतना जीवन में निरन्तर नहीं रहती है, जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मृत्यु में चेतना का अभाव निरन्तर और त्रैकालिक होता है। यही कारण है कि विश्वनाथ जैसे नैयायिकों ने सामयिकाभाव को अत्यन्ताभाव के अन्तर्गत रखा है।

अन्योन्याभाव वह है जिसमें दो पदों या वस्तुओं में तादात्म्यता का अभाव होता है। तादात्म्यता का तात्पर्य अभिन्नता से है। जैसे "अ अ है" में अ और अ के बीच तादात्म्यता है। परन्तु "अ ब नहीं है" वाक्य में अ और ब के बीच तादात्म्य का अभाव है। यह अभाव हमेशा रहता है। अतः अन्योन्याभाव भी त्रैकालिक, नित्य, अनादि और अनन्त है। "घट पट नहीं है" वाक्य में बतलाया गया है कि घड़ा और कपड़ा एक नहीं है। उनमें तादात्म्यता का अभाव है जो सदैव रहता है। घड़ा न तो कपड़ा हो सकता है और न ही कपड़ा घड़ा हो सकता है।

कतिपय विद्वानों का मानना है कि अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव में कोई भेद नहीं है। अत्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव या अन्योन्याभाव को अत्यन्ताभाव में परिवर्तित किया जा सकता है। "काशी मथुरा नहीं है"— यह अन्योन्याभाव का उदाहरण है। इसे निम्नलिखित वाक्यों में रूपान्तरित किया जा सकता है—

(क) काशी में मथुरा नहीं है।

(ख) मथुरा में काशी नहीं है।

ये दोनों वाक्य अत्यन्ताभाव के हैं। अर्थात् अन्योन्याभाव को अत्यन्ताभाव में रूपान्तरित किया गया है।

"वायु में रंग नहीं हैं"— यह अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। इसे अन्योन्याभाव में रूपान्तरित किया जा सकता है— "वायु रंग नहीं है" या "रंग वायु नहीं है"। परन्तु अत्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव या अन्योन्याभाव को अत्यन्ताभाव में रूपान्तरित करना तर्कसंगत नहीं है। दोनों अभाव के स्वरूप में अन्तर है। अत्यन्ताभाव संसर्गाभाव का एक रूप है जिसका आधार संयोग या समवाय सम्बन्ध होता है, जबकि अन्योन्याभाव का आधार तादात्म्यता है।

नव्य न्याय के अनुसार निषेध (अभाव) का प्रकार

नव्य न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित संसर्गाभाव (प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, सामयिकाभाव) तथा अन्योन्याभाव को स्वीकार करता है। अभाव का यह प्रकार तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से है। लेकिन नव्य न्याय दर्शन में तार्किक दृष्टिकोण से भी अभाव के प्रकार का प्रतिपादन हुआ है। नव्य न्याय के अनुसार तत्त्वमीमांसीय अभाव के अतिरिक्त तार्किक दृष्टिकोण से अभाव के निम्नलिखित प्रकार हैं— अभावाभाव, सामान्याभाव, विशेषाभाव, उभयाभाव तथा अन्यतराभाव। भाषादार्शनिक सौन्दड़ उपाध्याय ने **व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव** नाम के एक और अभाव का उल्लेख किया है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव—सौन्दड़ उपाध्याय के अनुसार किसी तर्कवाक्य में कम-से-कम दो पदों का प्रयोग अवश्य होता है। उन पदों में दो तरह का सम्बन्ध पाया जाता है— समानाधिकरण सम्बन्ध और व्यधिकरण सम्बन्ध। समानाधिकरण का तात्पर्य एक ही या समान अधिकरण या आधार से है। जब दो पदों का आधार एक ही हो, तो उन पदों में समानाधिकरण सम्बन्ध होता है। इसलिए इन पदों को समानाधिकरण्य कहा जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसे— घटत्व और द्रव्यत्व का आधार एक ही है— घट। घड़ा में द्रव्यत्व और घटत्व दोनों निहित रहता है। घड़ा एक द्रव्य है और घटत्व उसका सामान्य है। सामान्य सदैव विशेष में निहित रहता है।

व्यधिकरण का तात्पर्य दो पदों का एक ही आधार में नहीं रहना है। जैसे— मनुष्यत्व और गोत्व। मंनुष्यत्व का आधार मनुष्य पद है, तो गोत्व का आधार गाय पद है। मनुष्य में न तो गोत्व होता है और न ही गाय में मनुष्यत्व। अतः इन दोनों पदों में व्यधिकरण सम्बन्ध पाया जाता है और इन्हें व्याधिकरण्य कहा जाता है। सौन्दड़ तथा कई अन्य तर्कशास्त्रियों का मानना है कि व्यधिकरण भी अभाव को निरूपित करता है। अतः व्यधिकरण द्वारा निरूपित अभाव को व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव कहा जाता है। इस अभाव को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। "देवदत्त मनुष्य होने से गाय नहीं है।" इस उदाहरण में दो अंश हैं— (क) देवदत्त मनुष्य है। (ख) देवदत्त गाय नहीं है। प्रथम वाक्य बतलाता है कि मनुष्यत्व देवदत्त में निहित है। अतः मनुष्यत्व का आधार देवदत्त है। द्वितीय वाक्य बतलाता है कि गोत्व देवदत्त में निहित नहीं है अर्थात् गोत्व का आधार देवदत्त नहीं है। तात्पर्य यह है कि देवदत्त आधार में गोत्व का अभाव है, क्योंकि देवदत्त गोत्व का व्यधिकरण है। इसलिए इस उदाहरण में गोत्व का अभाव व्यधिकरण धर्म से युक्त है, अर्थात् यह अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव कहलाता है। इस अभाव को समझने के लिए "व्यधिकरण धर्म" नामक अवच्छेदक का प्रयोग किया जाता है।

परन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार व्यधिकरण धर्म को अवच्छेदक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि समानाधिकरण के ज्ञान के बिना व्यधिकरण का ज्ञान नहीं हो सकता। मूल अवच्छेदक समानाधिकरण ही है। अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव को अभाव का प्रकार नहीं माना जा सकता है। गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार केवल समानाधिकरण धर्म ही अवच्छेदक का कार्य कर सकता है, क्योंकि प (P) को जाने बिना अ-प (Non-P) को नहीं जाना जा सकता या यों कहा जाय कि घट के ज्ञान के बिना अ-घट का ज्ञान नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि अभाव का ज्ञान अभाव के प्रतियोगी अर्थात् भाव के ज्ञान पर आधारित होता है और यह ज्ञान प्रतियोगितावच्छेदक धर्म द्वारा होता है। प्रतियोगितावच्छेदक धर्म प्रतियोगी का समानाधिकरण है। "मनुष्य होने से वह गाय नहीं है"— इस वाक्य का अर्थ है कि गोत्वाभाव के होने से वह गाय नहीं है अर्थात् उसमें गोत्व का अभाव है, इसलिए वह गाय नहीं है। गाय का प्रतियोगी गोत्व का अभाव अर्थात् अ-गाय है। इसलिए गोत्वाभाव प्रतियोगितावच्छेदक धर्म है। गोत्व का अभाव और गोत्व दोनों का आधार 'गाय' ही है। इसलिए समानाधिकरण ही एकमात्र अवच्छेदक है। यही कारण है कि नैयायिकों, विशेषकर नव्य नैयायिकों ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव को नहीं स्वीकारा है। यह अभाव वस्तुतः अन्योन्याभाव के अन्तर्गत आ जाता है। अन्योन्याभाव तादात्म्याभाव का पर्याय है। "मनुष्य होने से वह गाय नहीं है"— इस वाक्य में मनुष्यत्व और गोत्व दोनों में तादात्म्य का अभाव है। इसी आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि यदि वह मनुष्य है, तो निश्चय ही वह गाय नहीं है। मनुष्य और गाय में भिन्नता है। इसी भिन्नता के कारण उनमें तादात्म्य का अभाव होता है। इसी दृष्टिकोण से नव्य नैयायिकों ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव को अन्योन्याभाव या तादात्म्याभाव की संज्ञा दी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभावाभाव—न्याय तथा नव्य न्याय दर्शनों में अभावाभाव नामक एक अभाव का उल्लेख है। मीमांसकों ने इस अभाव को स्वीकार नहीं किया है। उनका मानना है कि अभावाभाव को स्वीकार करने से अनवस्था दोष आ जाता है। घटाभाव का अभाव का तात्पर्य तो घट का भाव है। अब, यदि घटाभावाभाव का अभाव बतलाया जाय, तो उसका तात्पर्य घट का अभाव होगा। पुनः, घटाभावाभावाभाव का अभाव कहा जाय, तो इसका तात्पर्य घट का भाव होगा। इस प्रकार, अभावाभाव को मानने से भाव-अभाव की अनन्त श्रृंखला बनती जायेगी, जो अन्तहीन होगा अर्थात् अभावाभाव का संप्रत्यय अनवस्था दोष से युक्त है। परन्तु नैयायिकों, विशेषकर नव्य नैयायिकों ने अभावाभाव को अभाव का प्रकार माना है और अभावाभाव के संप्रत्यय को अनवस्था दोष से मुक्त माना है। उनका मानना है कि अभाव का अभाव भाव है, लेकिन तीसरा अभाव तो पहला अभाव के समतुल्य है। उदाहरण के लिए ~(~ प) ≡ प (~ प) ≡ ~ प। अ-घट (अ-घट) ≡ घट (अ-घट) ≡ अ-घट। दूसरे शब्दों में घटाभावाभाव ≡ घट का भाव। पुनः घट-भाव का अभाव घटाभावाभावाभाव हो जायेगा। नव्य न्याय में घटाभावाभाव के संप्रत्यय का बारीकी से विश्लेषण किया गया है।

घटाभावाभाव पद को दो पदों में विभक्त किया जाता है— घटाभाव और अभाव। पहले घटाभाव का विश्लेषण किया जाता है। घटाभाव का प्रतियोगी घट है। अतः घटाभाव को समझने के लिए प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का प्रयोग किया जाता है। इस धर्म द्वारा स्पष्ट होता है कि घटत्वनिष्ठ अवच्छेदक से निरूपित घटरूपी प्रतियोगिता का अभाव घटाभाव में है। अब, घटाभावाभाव पद को लिया जाय। इस पद में प्रतियोगिता घटाभाव है, क्योंकि उसका (घटाभाव का) अभाव पाया जाता है। यहाँ भी प्रतियोगितावच्छेदक धर्म द्वारा घटाभावाभाव पद को समझा जाता है। इस धर्म द्वारा स्पष्ट होता है कि घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकतानिष्ठ घटत्वाभावनिष्ठ अवच्छेदकता से युक्त घटाभाव रूपी प्रतियोगिता का अभाव घटाभावाभाव है।

अतः घटाभावाभाव का अर्थ है कि घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकतानिष्ठ अवच्छेदकतानिष्ठ अवच्छेदकतानिरूपित प्रतियोगितानिष्ठ अवच्छेदकतानिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित प्रतियोगिताक अभाव, अर्थात् घटत्वनिष्ठ अवच्छेदक से युक्त घटरूपी अवच्छेदक से निरूपित घटत्वाभावत्व निष्ठ अवच्छेदक से युक्त घटाभाव रूपी अवच्छेदक से निरूपित घटत्वाभावात्वाभावात्वनिष्ठ अवच्छेदक से युक्त घटाभावाभाव रूपी प्रतियोगिता के अभाव का ज्ञान ही घटाभावाभाव है।

सामान्याभाव तथा विशेषाभाव

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों पदार्थ हैं। नव्य न्याय के अनुसार जब किसी तर्कवाक्य में प्रयुक्त पद सामान्य का अर्थ प्रदान करता है और उस तर्कवाक्य द्वारा उस पद अर्थात् सामान्य का निषेध होता है, तो उसे सामान्याभाव कहते हैं। जैसे— घड़ा नहीं है। यहाँ घड़ा का अर्थ सामान्य घड़ा अर्थात् संसार के तीनों कालों के सभी घड़ा है। अतएव इस वाक्य में सभी घड़ा के नहीं होने अर्थात् सभी घड़ा के अभाव का बोध होता है। सभी घड़ा का अभाव ही सामान्याभाव है। इसी प्रकार, जब किसी तर्कवाक्य में प्रयुक्त पद विशेष का अर्थ प्रदान करता हो और उस तर्कवाक्य में उस पद अर्थात् विशेष का निषेध हो, तो उसे विशेषाभाव कहते हैं। जैसे— नीला घड़ा नहीं है। इस वाक्य में एक विशेष घड़ा के विषय में बतलाया गया है, न कि त्रैकालिक सभी घड़ा के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय में। वह विशेष घड़ा "नीला घड़ा" है। इस वाक्य में इस विशेष घड़ा का निषेध किया गया है। अतः नीला घड़ा का नहीं होना अर्थात् उसका अभाव विशेषाभाव है।

अभाव चाहे सामान्य हो या विशेष, दोनों ही स्थितियों में भाव भी रहता है। तात्पर्य यह है कि एक दृष्टि से जो भाव है, दूसरी दृष्टि से वह अभाव होता है। "जमीन पर घड़ा है"— यह वाक्य बतलाता है कि जमीन और घड़ा के बीच एक सम्बन्ध है। वह संयोग सम्बन्ध है, परन्तु उनमें समवाय सम्बन्ध नहीं है। अतः इस वाक्य के दो अर्थ हैं— (क) संयोग सम्बन्ध द्वारा जमीन पर घड़ा का भाव (अस्तित्व) है। (ख) समवाय संम्बन्ध द्वारा जमीन पर घड़ा का अभाव (अनस्तित्व) है। प्रथम अर्थ में घड़ा के अस्तित्व का नियामक या निरूपक घट-संयोग है, जबकि द्वितीय अर्थ में घड़ा के अनस्तित्व का नियामक या निरूपक घट-समवाय का अभाव है। इसे और अच्छी तरह समझने के लिए अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। जमीन पर घड़ा है— वाक्य में घड़ा का सामान्य अर्थ अर्थात् तीनों कालों के सभी घड़ा का अर्थ निर्देशित होता है। इसलिए इस वाक्य का अर्थ है कि जमीन पर घड़ा घट-सामान्य (घटत्वेन) रूप में अस्तित्ववान् है अर्थात् घड़ा का भाव घट-सामान्य रूप में है। परन्तु जमीन पर नीला घड़ा नहीं है— वाक्य में एक विशेष घड़ा (नीला घड़ा) का अभाव बतलाया गया है। अतः यहाँ घड़ा का अभाव नीला घटत्व (नीला घड़ा) के रूप में है। स्पष्ट है कि जमीन पर घट-सामान्य रूप में घड़ा है, परन्तु नीला घटत्व रूप में घड़ा नहीं है। एक ही वाक्य से घड़ा का सामान्य भाव बोधित होता है, तो घड़ा के विशेषाभाव का भी बोध होता है। इसी प्रकार, एक ही वाक्य द्वारा सामान्याभाव और सामान्य-भाव दोनों का भी बोध होता है जैसे— जमीन पर घड़ा है, कपड़ा नहीं। यह संयोजक वाक्य है। इस वाक्य के दो अंश हैं— (i) जमीन पर घड़ा है तथा (ii) जमीन पर कपड़ा नहीं है।पहला अंश घट-सामान्य द्वारा घड़ा के अस्तित्व का बोध कराता है, जबकि दूसरा अंश पट-सामान्य द्वारा कपड़ा के अनस्तित्व का बोध कराता है। इसके साथ ही साथ यह भी बोध होता है कि घट और पट दोनों रूपों में घड़ा का अभाव है, अर्थात् घड़ा का भाव या अभाव घड़ा के रूप में ही हो सकता है, कपड़ा के रूप में नहीं, चाहे वह सामान्याभाव हो या विशेषाभाव।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अभाव या भाव निरपेक्ष और स्वतंत्र नहीं हो सकता। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के रूप में भाव तथा अभाव दोनों को स्वतंत्र और निरपेक्ष तत्त्व माना गया है। परन्तु नव्य नैयायिकों की दृष्टि में भाव-अभाव सापेक्ष होते हैं। जैन दार्शनिक भी मानते हैं कि भाव और अभाव दोनों सापेक्ष हैं। "घड़ा नहीं है" वाक्य का तात्पर्य यह नहीं है कि घड़ा का निषेध हुआ है। यदि घड़ा का अर्थ सामान्य घड़ा से लिया जाय, तो यहाँ घड़ा का सामान्याभाव है, पर विशेष घड़ा का अभाव नहीं है। हो सकता है कि मात्र एक घड़ा का अस्तित्व हो। साधारणतः माना जाता है कि सामान्य के अन्तर्गत विशेष निहित रहता है। सभी में एक निहित है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी का अभाव होने पर एक का भी अभाव हो। यदि घड़ा का अर्थ विशेष घड़ा लिया जाय, तो यह वाक्य विशेष घड़ा के निषेध का निर्देश देता है। विशेष घड़ा अर्थात् एक घड़ा का अभाव है, लेकिन सभी घड़ा का नहीं। स्पष्ट है कि भाव-अभाव एक-दूसरे के पूरक और सापेक्ष हैं। दूसरी बात, घड़ा का अभाव सामान्य या विशेष रूप में किसी आधार (जैसे— जमीन) पर होता है। अतएव घड़ा और घड़ा के आधार में सम्बन्ध पाया जाता है। सम्बन्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दो तरह का होता है— संयोग और समवाय। संयोग सम्बन्ध से घड़ा का अभाव है, तो समवाय सम्बन्ध से घड़ा का भाव है। समवाय सम्बन्ध से घड़ा का अभाव है, तो संयोग सम्बन्ध से घड़ा का भाव है। अतएव सामान्याभाव और विशेषाभाव का आधार संयोग सम्बन्धावच्छेदक तथा समवाय सम्बन्धावच्छेदक है। अतएव घड़ा का अभाव होने का अर्थ है— (i) संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव (ii) समवाय सम्बन्धावच्छिन्न घटनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव।

उभयाभाव—किसी वाक्य द्वारा बोधित हो कि उस वाक्य में प्रयुक्त पद या पदों का अभाव है, तो उसे उभयाभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए, जमीन पर नीला घड़ा नहीं है। इस वाक्य में प्रयुक्त प्रमुख पद नीला और घड़ा हैं। इन पदों का अभाव 'जमीन' नामक तीसरे पद में बतलाया गया है। जमीन पद का भाव है। इस वाक्य के अर्थ को समझने के लिए प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का प्रयोग करना अपेक्षित है। यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक धर्म दो हैं— नीलत्व और घटत्व। यह वाक्य दोनों का अभाव बतलाता है। इसलिए इस अभाव को उभयाभाव कहा जाता है। "नीला घड़ा नहीं है" वाक्य के कम-से-कम तीन अर्थ हो सकते हैं—

(क) घटत्व है, लेकिन नीलत्व नहीं है। नीला घड़ा नहीं है का तात्पर्य यह हो सकता है कि लाल घड़ा हो।

(ख) नीलत्व है, लेकिन घटत्व नहीं है। हो सकता है कि नीला कपड़ा हो, पर किसी भी रंग का घड़ा नहीं हो।

(ग) न तो घटत्व है न नीलत्व है। नीला घड़ा नहीं है का तात्पर्य हो कि उजला फूल है।

तीनों अर्थ उभयाभाव की श्रेणी में आते हैं। प्रथम और द्वितीय अर्थ में एक पद (घड़ा या नीला) का अभाव है, जबकि तृतीय अर्थ में दोनों पदों (नीला और घड़ा) का अभाव है। अतएव कहा जा सकता है कि उभयाभाव तभी होता है जब किसी वाक्य में प्रयुक्त दो पदों में किसी एक पद का अभाव हो या दोनों पदों का अभाव हो। वस्तुतः यह अभाव संयोजक वाक्य में होता है।

अन्यतराभाव—जब किसी वैकल्पिक (वियोज्य) तर्कवाक्य में प्रयुक्त दोनों वैकल्पिक पदों का अभाव होता है, तो उसे अन्यतराभाव कहते हैं। नव्य नैयायिकों के अनुसार 'अन्यतर' का अर्थ परस्पर अभाव है जो दो परस्पर अभावों द्वारा अवच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदक धर्म कहलाता है। उदाहरण के लिए, घड़ा या तो नीला है या लाल। इस वाक्य में दो वैकल्पिक पद हैं— नीला और लाल। यदि नीला सत्य है, तो लाल असत्य। एक विकल्प के सत्य होने पर यह वाक्य सत्य हो जाता है। परन्तु जब दोनों विकल्प (नीला और लाल) असत्य होते हैं, तो यह वाक्य असत्य हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि दोनों विकल्पों का असत्य होना उन विकल्पों का निषेध या अभाव है। अतएव उक्त वाक्य का अर्थ है— घड़ा न तो नीला है न लाल। यहाँ नीलत्वावच्छेदक घटनिष्ठ प्रतियोगिता तथा लालत्वावच्छेदक घटनिष्ठ प्रतियोगिता दोनों का अभाव है। इसलिए इस वाक्य में अन्यतराभाव है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्ध दर्शन के अनुसार निषेध (अपोह) का संप्रत्यय

बौद्ध दर्शन, विशेषतः विज्ञानवाद में निषेध के संप्रत्यय की विवेचना अपोह के रूप में की गयी है। दिङ्नाग की पुस्तक ''प्रमाणसमुच्चय'' में अपोह की अवधारणा का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। रत्नकीर्त्ति की पुस्तक ''अपोहसिद्धि'' में इस अवधारणा की विवेचना विस्तार से की गयी है। शान्तरक्षित, कमलशील आदि परवर्त्ती बौद्ध विचारकों ने भी अपोह की व्याख्या की है। 'अपोह' शब्द का संधि-विच्छेद किया जाय, तो इस शब्द में दो पद संयुक्त पाये जाते हैं। वे पद हैं— अप् और ऊंह। अप् उपसर्ग है जिसका अर्थ है नहीं। ऊंह निषेधात्मक पद है। इस पद का भी अर्थ है नहीं। अतः अपोह का शाब्दिक अर्थ है नहीं नहीं। दूसरे शब्दों में, अपोह वह सिद्धान्त या तार्किक विधि है, जो ''नहीं नहीं'' द्वारा किसी शब्द के अर्थ का निर्देशन करता है। उपनिषदों में ''नेति नेति'' शब्द का प्रयोग मिलता है। परमसत्ता ब्रह्म की व्याख्या के लिए ''न इति न इति'' की पद्धति अपनायी गयी है। ब्रह्म अमुक नहीं है, अमुक नहीं है, अमुक नहीं है, इत्यादि अर्थात् ब्रह्म की व्याख्या भावात्मक रूप में असम्भव है। हम ब्रह्म को निषेधात्मक विधि से ही समझ सकते हैं। यही कारण है कि ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के प्रवर्त्तक शंकर ने भी नेतिवाद के तार्किक विधि को अपनाकर ब्रह्म को अनिर्वचनीय तथा अव्याख्येय माना है। चाहे उपनिषद हों या अद्वैत वेदान्त, दोनों ने ''नहीं नहीं'' की तार्किक पद्धति द्वारा भावात्मक सत्ता तक पहुंचने का प्रयास किया है। पाश्चात्य दार्शनिक हीगेल ने जिस द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग कर भावात्मक सत्ता निरपेक्ष सत् के अस्तित्व को सिद्ध किया है, वह भी बौद्धों के अपोह-पद्धति के समीप है। बौद्धों के अनुसार विशेषतः विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार, संसार की समस्त वस्तुएँ भाव और अभाव रूप में विभाजित हैं। भाव पदार्थ को समझने के लिए उसका निषेध कर के ही समझा जा सकता है। जैसे— 'गाय' पद को समझना या परिभाषित करना है, तो हमें कहना होगा कि गाय अ-गाय नहीं है। इस कथन का तात्पर्य है कि गाय गाय से भिन्न अन्य सत्ता नहीं है। इसे अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नात् कहा जाता है। हीगेल ने भी संसार की वस्तुओं को 'बीईंग' और ''नन-बीईंग'' के रूप में विभाजित किया है। 'अ' बीईंग है, तो 'न-अ' ''नन-बीईंग'' है। अ वाद है, न-अ प्रतिवाद है। जब अ और न-अ में संश्लेषण होता है, तो 'ब' नामक वाद और पुनः 'न-ब' नामक प्रतिवाद उत्पन्न होते हैं। पुनः इनमें संश्लेषण होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। संश्लेषण को संवाद कहा गया है। वाद-प्रतिवाद-संवाद निरन्तर चलनेवाली इसी प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक विधि कहते हैं जो अन्ततः निरपेक्ष सत् में जाकर समाहित हो जाता है। अद्वैत वेदान्त एवं उपनिषदों में भी सारे अन्तर्विरोधों और निषेधों का समापन परमसत्ता ब्रह्म में माना गया है।

परन्तु बौद्ध दार्शनिकों, चाहे वह शून्यवादी हों या विज्ञानवादी, की मान्यता है कि परमसत्ता ब्रह्म या निरपेक्ष सत् का अस्तित्व नहीं होता। यदि कोई तात्त्विक सत्ता है, तो वह या तो शून्य मात्र है या विज्ञान मात्र। शून्य निषेध का ही पर्याय है। पर नागार्जुन ने शून्य को निषेधात्मक सत्ता नहीं माना है। उनके अनुसार शून्य का अर्थ 'तथत' है। तथत शब्द तटस्थता या निरपेक्षता का भाव प्रदान करता है। यह परमसत्ता का निषेध नहीं, वरन् भाव है। परमसत्ता का यह भाव परमार्थ सत् है। किन्तु नागार्जुन ने संवृत्ति सत् की भी कल्पना की है। संसार में पायी जानेवाली चेतन-अचेतन, सजीव-निर्जीव वस्तुएँ संवृत्ति सत् हैं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्योंकि ये वस्तुएँ निःस्वभाव होती हैं। वस्तुतः वस्तुओं का स्वभाव निर्धारित करना असम्भव है। इसलिए नागार्जुन ने कहा कि वस्तुएँ सत् नहीं है, असत् नहीं हैं, सत् और असत् दोनों नहीं हैं और, न सत् न असत् दोनों नहीं हैं। वस्तुओं का चतुष्कोटि परे होना ही निषेध के सम्प्रत्यय का संकेतक है। परन्तु बौद्ध दर्शन में निषेध की अवधारणा की वास्तविक व्याख्या बौद्ध विज्ञानवादियों द्वारा ही की गयी है।

बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान उस शब्द के विपरीत अर्थ के निषेध द्वारा ही जाना जाता है। नीला का तात्पर्य अ-नीला का निषेध है। नीला उन सभी वस्तुओं से भिन्न है जो नीलेतर या अ-नीला हैं। नीला और अ-नीला एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन दो पदों या वस्तुओं के बीच किसी तीसरे पद या वस्तु की सम्भावना बिल्कुल नहीं है। संसार की सभी वस्तुएँ या तो नीला हैं या नीलेतर (अ-नीला)। इनके मध्य अन्यथागति का अभाव है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की दृष्टि में मध्याभाव या अनन्य नियम (Law of excluded middle) के अनुसार मात्र दो ही पद होते हैं और वे पद व्याघाती होते हैं। अतएव नीला और अ-नीला के अन्तर्गत ही सभी वस्तुएँ समाहित हैं। नीलेतर वस्तुएँ 'अ-नीला' की श्रेणी में हैं और शेष 'नीला' की श्रेणी में। सांसारिक वस्तुओं का यह विभाजन 'द्विवर्गाश्रित विभाग' की श्रेणी में आता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार विभाग का एक प्रकार द्विवर्गाश्रित होता है। द्विवर्गाश्रित विभाग का तात्पर्य है कि संसार की सभी वस्तुओं को केवल दो वर्ग में ही विभाजित किया जा सकता है। जैसे— 'मनुष्य' पद का विभाग करना हो, तो उसे निम्नलिखित तालिका द्वारा किया जा सकता है—

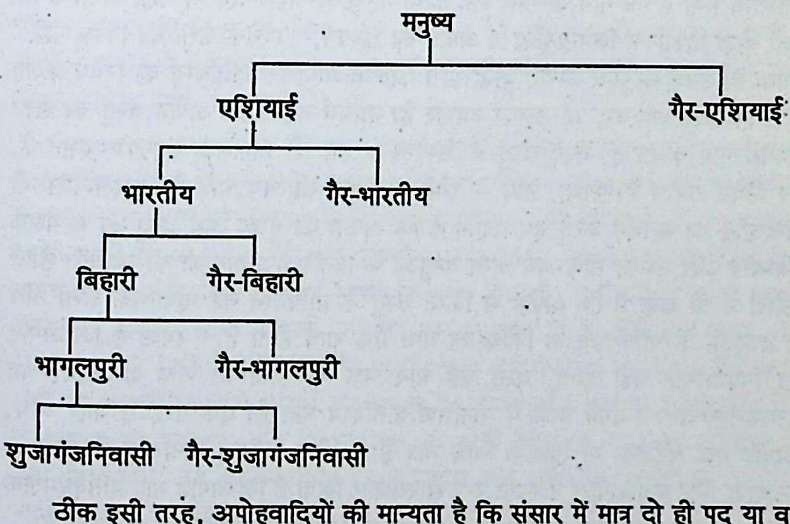

ठीक इसी तरह, अपोहवादियों की मान्यता है कि संसार में मात्र दो ही पद या वस्तुएँ हो सकती हैं— भाव पद (नीला) और अभाव पद (अ-नीला)। भाव पद को समझने के लिए अ-भाव पद की सहायता ली जाती है। वस्तुतः भाव का अर्थ अभाव का निषेध है। सांकेतिक रूप में कहा जाय, तो प ≡ ~~ प अर्थात् प का अर्थ न-प नहीं है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की आधुनिक शाखा प्रतीकात्मक तर्कशास् त्र कहलाती है। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के अनुसार निगमन की विधियों के कई नियम हैं जिनमें एक नियम द्विनिषेध का नियम है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसे अंग्रेजी भाषा में Double negation कहते हैं। अपोह की विधि भी एक प्रकार से द्विनिषेध नियम ही है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस द्विनिषेध नियम का प्रवर्त्तन पाश्चात्य तर्कशास्त्र में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, उसी नियम का प्रवर्त्तन भारतीय भाषादर्शन के अन्तर्गत पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिङ्नाग ने 'अपोह' नाम से किया। लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भारतीय (बौद्ध) दार्शनिकों ने जो चिन्तन किया, वही चिन्तन पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने आधुनिक (20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) समय में किया।

अपोह की विधि का प्रवर्त्तन सामान्य के सम्प्रत्यय की व्याख्या के लिए किया गया। दिङ्नाग के अनुसार वस्तुओं के दो लक्षण होते हैं— स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। मनुष्य केवल स्वलक्षण का ही बोध कर पाता है, सामान्य लक्षण का नहीं। सामान्य नित्य है, जबकि वस्तुएँ अनित्य हैं। विज्ञानवाद का आधार क्षणभंगुरवाद है। क्षणभंगुरवाद के अनुसार सभी वस्तुओं का अस्तित्व क्षण मात्र के लिए है। अतएव वस्तुओं के स्वरूप को जानना असम्भव है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि अमुक वस्तु क्या है अर्थात् उस वस्तु का नाम बतलाना कठिन ही नहीं, नामुमकिन हो जाता है। यही कारण है कि दिङ्नाग ने नाम, शब्द या संप्रत्यय को वस्तु का बोधक नहीं माना है। उनकी मान्यता है कि शब्द या नाम या संप्रत्यय किसी वस्तु का बोध कराता है, एक मिथ्या अवधारणा है। वस्तुतः वस्तुएँ प्रतिषेधमूलक होती हैं।[164] प्रतिषेध का अर्थ निषेध है। अतः कोई वस्तु क्या है, इसे जानने के लिए उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं का निषेध करना पड़ता है। जैसाकि ऊपर की पंक्तियों में बतलाया गया है कि गाय अ-गाय नहीं है या नीला अ-नीला नहीं है। यही कारण है कि परवर्त्ती बौद्ध दार्शनिक जिनेन्द्रबुद्धि ने अपोह का तात्पर्य, ''प्रत्येक सत्ता का निषेध नहीं'' बतलाया है। उनके अनुसार अपोह बुद्धि द्वारा कल्पित मानसिक प्रतिबिम्ब का निषेध करता है,[165] न कि स्वलक्षण का, जो उसका आधार है। तात्पर्य यह है कि अपोह वस्तु की सत्ता का निषेध नहीं करता है, वरन् वस्तु के सम्बन्ध में हम जो मानसिक संप्रत्यय बनाते हैं, उनका निषेध करता है। शब्द, नाम ये सभी मानसिक संप्रत्यय मात्र हैं। कमलशील भी जिनेन्द्रिबुद्धि का समर्थन करते हुए कहता है कि अपोह का मुख्य अर्थ वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब है और उसका गौण अर्थ अन्य वस्तुओं के मानसिक प्रतिबिम्बों की व्यावृत्ति है।[166] रत्नकीर्त्ति ने भी कहा है कि अपोह से किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब की भावात्मक सत्ता और अन्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बों के निषेध का बोध एक साथ होता है।[167] स्पष्ट है कि अपोह केवल निषेधात्मक नहीं होता, वरन् वह भावात्मक भी होता है। साथ ही साथ, वह भावात्मक-निषेधात्मक दोनों रूपों में मानसिक प्रतिबिम्ब मात्र है। एक तरह से कहा जाय, तो अपोह एक बौद्धिक या तार्किक विधि मात्र है। तार्किक विधियाँ मानसिक ही होती हैं। जिनेन्द्रबुद्धि और कमलशील ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि अपोह मात्र प्रतिषेधमूलक नहीं होता है, वरन् भावमूलक होता है। भावमूलक अपोह को पर्युदास कहा जाता है।

---

164. दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय, 5.1
165. जिनेन्द्रबुद्धि, प्रमाणसमुच्चयवृत्तिटीका, पृ॰ 287
166. कमलशील, तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ॰ 319
167. रत्नीकीर्त्ति, अपोहसिद्धि, पृ॰ 3

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपोह का प्रकार

सम्भवतः इसी आधार पर शान्तरक्षित ने अपोह के दो प्रकारों का उल्लेख किया है— पर्युदास और प्रसज्य प्रतिषेध।[168] पर्युदास अपोह के भी दो भेद किये गये हैं— बुद्ध्यात्म और अर्थात्म। पर्युदास अपोह को सापेक्ष अभाव कहा जाता है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। अब्राह्मण को खिलाओ। इस वाक्य का तात्पर्य है कि जो ब्राह्मण नहीं हैं, उन्हें खिलाना अर्थात् 'अब्राह्मण' शब्द से जो मानसिक प्रतिबिम्ब उभरता है, वह है क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि का मानसिक प्रतिबिम्ब। क्षत्रियादि का मानसिक प्रतिबिम्ब भावात्मक है। इस वाक्य में क्षत्रियादि को खिलाने पर जोर दिया गया है, न कि ब्राह्मण को नहीं खिलाने पर। इसलिए यह (पर्युदास) भावात्मक या सापेक्ष निषेध कहलाता है। इस अपोह को प्रत्यय-भेद और वस्तु-भेद की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रत्यय-भेद पर आधारित पर्युदास को **बुद्धयात्म अपोह** कहा गया है। वस्तुभेद पर आधारित पर्युदास को **अर्थात्म अपोह** कहा गया है।

बुद्धयात्म अपोह ही किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उत्पन्न करता है और वास्तविक वस्तु की भ्रान्ति को जन्म देता है। अप्रत्यक्षतः इसी भ्रान्ति द्वारा अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति भी हो जाती है। देवराज के अनुसार बुद्धयात्म अपोह ही वास्तविक अर्थ में अपोह है, अर्थात्म नहीं।[169] अर्थात्म अपोह को अपोह की संज्ञा इसलिए दी जाती है कि यह सभी वस्तुओं से व्यावृत्त रूप में प्रकट होता है और अपोह का आधार होता है। वस्तुतः मानसिक प्रतिबिम्ब के लिए वस्तुओं की भिन्नता आवश्यक है। बुद्धयात्म अपोह का आधार अर्थात्म अपोह है। जिस तरह प्रकृति विज्ञान के बिना आलय विज्ञान की पहचान नहीं हो सकती, उसी तरह अर्थात्म अपोह के बिना बुद्धयात्म अपोह को समझना कठिन है। इसी दृष्टिकोण से पर्युदास अपोह सापेक्ष निषेध कहलाता है।

प्रसज्य प्रतिषेध अपोह को आत्यन्तिक (पूर्ण) अभाव कहा जाता है। वस्तुतः यह अपोह किसी वस्तु के पूर्ण निषेध पर बल देता है। जैसे— प्याज मत खाओ। यहाँ प्याज के 'नहीं' खाने पर बल दिया गया है। यहाँ प्याज का अर्थ प्याज ही है, अ-प्याज नहीं। दूसरे शब्दों में, अ-प्याज नहीं नहीं खाओ— इस वाक्य का अर्थ है। स्पष्ट है कि इस वाक्य से प्याज के खाने की पूर्ण मनाही का बोध होता है, न कि अन्य खाद्य पदार्थों के खाने की मनाही। अतः प्रसज्य प्रतिषेध अभावमूलक अपोह है। एक प्रकार से यह "अत्यन्ताभाव" की श्रेणी में आता है। अत्यन्ताभाव संसर्गाभाव का एक रूप है। प्याज नहीं खाने का तात्पर्य प्याज के संसर्ग का अभाव है। संयोग और समवाय दोनों रूपों में यहाँ संसर्गाभाव है। इसलिए इसे अत्यन्ताभाव की श्रेणी में रखा गया है। पर्युदास अपोह "अन्योन्याभाव" की श्रेणी में आता है। अ-ब्राह्मण और क्षत्रियादि में तादात्म्य या अन्योन्य भाव है। अतः अ-ब्राह्मण को नहीं खिलाना और क्षत्रियादि को खिलाना एक ही है अर्थात् दोनों का अर्थ एक है। उनमें अभिन्नता है। इसलिए अ-ब्राह्मण को नहीं खिलाना अन्योन्याभाव की श्रेणी में आता है।

---

168. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 1004

169. डॉ॰ नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन, पृ॰ 247.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपोह-विचार की समीक्षा

पर्युदास अपोह और प्रसज्य प्रतिषेध अपोह क्रमशः अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव की श्रेणी में आता है, तो अपोह की अवधारणा निरर्थक हो जाती है क्योंकि अभाव और अपोह में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु अभाव की अवधारणा में भाव का होना आवश्यक है, जबकि अपोह की अवधारणा में भाव का होना आवश्यक नहीं है। यह तो द्विनिषेध है। यही कारण है कि बौद्धों ने अपोह को अभाव की श्रेणी में नहीं रखा है, बल्कि निषेध के अन्तर्गत रखा है। अभाव तात्त्विक (तत्त्वमीमांसीय) निषेध है, जबकि निषेध तार्किक (तर्कशास्त्रीय) तथा भाषाशास्त्रीय निषेध है। इसके बावजूद, भामह, कुमारिल, नागेश आदि ने अपोह-विचार की आलोचना की है।

आलोचना

भामह[170] के अनुसार अपोह की अवधारणा में निम्नलिखित असंगतियाँ हैं—

(i) यदि गाय आदि का संकेतार्थ केवल निषेधात्मक रूप में तद्भिन्न का निषेध माना जाय, तो उस शब्द से भावात्मक रूप में गाय आदि का वाच्यार्थ (अभिधा अर्थ) जानना असंभव है। एक ही शब्द से भाव और निषेध का बोध होना असंभव है। अतः अपोह-विचार में व्याघात दोष पाया जाता है।

(ii) गाय शब्द से गाय से भिन्न वस्तुओं के निषेध के बोध के लिए आवश्यक है कि गाय का बोध पहले हो जाय। गाय को जाने बिना उससे भिन्न वस्तुओं का बोध नहीं हो सकता। फलतः गाय से भिन्न वस्तुओं का निषेध भी असम्भव है। वस्तुतः अपोह के विचार में ''बैल के आगे गाड़ी जोतने'' का दोष है।

(iii) किसी शब्द की अभिधा शक्ति उसके साक्षात संकेतित अर्थ का बोध कराता है। अर्थात् शब्द के मुख्य अर्थ के बोध से उत्पन्न ज्ञान अव्यवहित होता है। अव्यवहित का तात्पर्य निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान से है। गाय शब्द कहने से गाय से भिन्न किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, बल्कि गाय नामक पशु का ही ज्ञान होता है।अतः गाय शब्द का अर्थ गाय से भिन्न का निषेध नहीं है। ऐसा होने पर गाय शब्द का अर्थ नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह अनर्थ की श्रेणी में आयेगा।

कुमारिल ने भी माना है कि अपोह की विधि अपनाकर दिङ्नाग आदि बौद्ध विचारकों ने जाति का खंडन किया हैं, परन्तु वे इस खंडन में सफल नहीं हो सके। अन्ततः बौद्ध अप्रत्यक्षतः जाति को स्वीकार लेता है। तद्भिन्न का निषेध (गाय से भिन्न पदार्थों का निषेध) किसी भावात्मक सत्ता (गाय) का ही बोध कराता है। तात्पर्य है कि अभाव या निषेध भाव के बिना नहीं हो सकता है। वह भाव सापेक्ष होता है। कुमारिल के अनुसार बौद्धों का तद्भिन्न-भिन्नवाद अन्ततः किसी भावात्मक सत्तावाले पदार्थ का ही निर्देश करता है, चाहे वह पदार्थ लोकसिद्ध मूर्त्त पदार्थ हो या उसकी केवल भावगत सत्ता हो।[171]

दूसरी बात, यदि शब्द तद्भिन्न का निषेध करता है, तो वह तद्भिन्न सामान्य रूप

---

170. भामह, काव्यालंकार, 6.17.16.

171. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्त्तिक, अपोहवाद, 2.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होगा या व्यक्तिरूप। गाय शब्द से गाय-भिन्न हाथी, घोड़ा, बाघ आदि का निषेध हाथी, घोड़ा, बाघ आदि के सामान्य का निषेध है या विशिष्ट हाथी, घोड़ा, बाघ आदि व्यक्तियों (विशेष पशुओं) का निषेध। बौद्ध दर्शन के अनुसार व्यक्ति अनिर्वचनीय है। स्वलक्षण मात्र होने से उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। अतः व्यक्ति के निषेध में शब्द की शक्ति (अर्थ) नहीं पायी जाती है। अतएव तद्भिन्न का निषेध व्यक्तिरूप का निषेध नहीं है। गाय शब्द से गाय-भिन्न पदार्थों के सामान्य का निषेध माना जाय, तो गाय-भिन्न घोड़ा आदि का ही अभावात्मक रूप सूचित होता है अर्थात् सामान्य रूप का भी निषेध नहीं है। ऐसी स्थिति में शब्द का अर्थ अभाव का अभाव होगा जो किसी भी हालत में तर्कसंगत नहीं है। यही कारण है कि कुमारिल ने बौद्ध अपोह को कल्पनाविलास मात्र माना है।[172] जयन्त भट्ट भी अपोह-विचार को कल्पनाविलास मानता है।[173]

जयन्त भट्ट के अनुसार अपोह की अवधारणा शब्द का संकेत तद्भिन्न से भिन्न में मानने पर अर्थ भावात्मक ही होगा, क्योंकि निषेध का निषेध तो भावरूप होता है। यह तो गणित का भी सिद्धान्त है कि घटा-घटा (- -) मिलकर जोड़ (+) होता है। अतएव गाय शब्द का अर्थ गाय से भिन्न कोई भी पदार्थ क्यों न हो, गाय शब्द से वाच्य अर्थ उस पदार्थ का नहीं माना जा सकता है।[174] परन्तु बौद्धों ने तद्भिन्न से भिन्न को, अभिन्न को नहीं, ही शब्द के संकेत का विषय मान लिया है जिससे उसके विचार में असंगति आ गयी है।

जयन्त भट्ट के अनुसार बौद्ध विचारकों ने 'अपोह' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। अपोह का अर्थ 'नहीं नहीं' बतलाया गया है। पर 'नहीं नहीं' का स्वरूप बतलाना कठिन है। जबतक 'नहीं नहीं' का स्वरूप नहीं समझा जायेगा, तबतक अपोह का अर्थ जानना असम्भव है।[175] कुमारिल ने भी माना है कि अपोह को निषेधात्मक रूप मानना संभव नहीं है, वह भावरूप है।[176]

उद्योतकर की मान्यता है कि यदि अपोह ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है, तो एक समस्या आती है कि 'सब' शब्द का अर्थ अपोह द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकता। एक या एक से अधिक पदार्थों से भिन्न पदार्थों की सम्भावना हो सकती है। परन्तु 'सब' से भिन्न 'अ-सब' की कल्पना नहीं हो सकती। यदि माना जाय कि सब से भिन्न एक, दो, तीन.... आदि अ-सब हैं, तो यहाँ तार्किक दोष पाया जायेगा। एक, दो, तीन...... आदि संख्याओं का निषेध करने का तात्पर्य है कि सब का निषेध करना, क्योंकि ये सभी संख्याएँ सब में ही निहित हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं। अतः एक, दो, तीन..... आदि संख्याओं को सब से भिन्न मानना व्याघात दोष में फंसना है।[177]

दिङ्नाग ने अपोह को प्रसज्यप्रतिषेध रूप माना है। प्रसज्यप्रतिषेध रूप एक प्रकार से अत्यन्ताभाव का पर्याय है, अर्थात् पूर्णरूपेण अभाव अपोह है। ऐसी स्थिति में किसी शब्द

---

172. वही, 95-97.

173. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी, भाग 1, पृ० 279.

174. वही,

175. वही,

176. कुमारिल भट्ट, वही, 164.

177. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, पृ० 329

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अर्थ भावरूप नहीं होगा। अब यदि किसी व्यक्ति को प्यास लगेगी, तो वह पानी की मांग करेगा। परन्तु अपोह की विधि से पानी का अर्थ ''अ-पानी नहीं'' अर्थात् ''पानी नहीं नहीं'' है। फलतः उस व्यक्ति की प्यास कदापि नहीं बुझेगी। स्पष्ट है कि अपोह को मान लेने से व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होती है। दिङ्नाग को प्यास लगती होगी, तो वह भी पानी पीता होगा— ''पानी नहीं नहीं'' नहीं। दूसरी बात है कि अपोह को पूर्णरूपेण अभाव मान लेने से वाक्य या शब्द का सम्बन्ध मात्र ऐसे मानस-विचार से होता है जिसका प्रतिरूप बाहरी संसार में कोई भी वस्तु नहीं है। ''पानी नहीं नहीं'' का प्रतिरूप नहीं पाया जाता, बल्कि पानी पाया जाता है। यही कारण है कि अपोह को मात्र मानसिक विलासिता मानी जाती है। तीसरी बात है कि अपोह को प्रसज्यप्रतिषेध मानकर उसे एक मानसिक प्रत्यय मात्र माना जाता है। मानसिक प्रत्यय भावरूप होता है, अभावरूप नहीं। अतएव दिङ्नाग का प्रसज्यप्रतिषेध अन्ततः भावरूप हो जाता है। यहाँ भी आत्मव्याघाती दोष पाया जाता है। यही कारण है कि शान्तरक्षित ने ''मानस प्रत्यय की भावात्मक सत्ता'' को ही शब्द का अर्थ मानने की वकालत की है, न कि प्रसज्यप्रतिषेध मात्र को।[178] सम्भवतः यही कारण है कि शान्तरक्षित ने पर्युदास अपोह को स्वीकारा है। परन्तु पर्युदास अपोह संसार की सभी वस्तुओं की व्याख्या नहीं कर पाता है। अब्राह्मण के अन्तर्गत केवल क्षत्रियादि वर्ण ही आते हैं, संसार की अन्य वस्तुएँ नहीं। अतः पर्युदास अपोह की अवधारणा में ससीमता का दोष है।

यदि अपोह का अर्थ ''नहीं नहीं'' है, तो ''नहीं नहीं'' की कोई सीमा नहीं होगी। फलतः अनवस्था दोष पाया जायेगा। इस दोष से बचने के लिए कहीं तो रूकना पड़ेगा, सीमा बनानी पड़ेगी। जहाँ रूका जायेगा, वह भावात्मक सत्ता ही होगी क्योंकि निषेध में कहीं ठहराव नहीं हो सकता। फलतः शब्द का अर्थ जानने के लिए, सामान्य के प्रत्यय की व्याख्या के लिए अपोह को संगत विचार नहीं माना जा सकता है।

आलोचना का उत्तर

भामह ने अपोह के विचार में एक ही शब्द के दो विरोधी अर्थों— भावात्मक और निषेधात्मक— को एक ही साथ संकेतित होता हुआ पाया है। फलतः अपोह-विचार आत्मव्याघाती दोष का शिकार है। परन्तु बौद्ध दार्शनिकों का उत्तर है कि अपोह-विचार में आत्मव्याघाती दोष देखना वस्तुतः अपोह के स्वरूप को नहीं समझ पाना है। वस्तुतः अपोह के अनुसार किसी शब्द का भावात्मक अर्थ मुख्य अर्थ है, तो उसका निषेधात्मक अर्थ गौण अर्थ है। इसी तरह किसी शब्द का निषेधात्मक अर्थ मुख्य अर्थ होता है, तो उसका भावात्मक अर्थ गौण अर्थ है। मुख्य अर्थ अभिधा कहलाता है और गौण अर्थ लक्षणा है। अभिधा और लक्षणा एक-दूसरे के विरोधी हैं। अतएव किसी शब्द का भावात्मक और निषेधात्मक अर्थों को एक दूसरे का विरोधी नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है कि अपोह-विचार में कोई दोष नहीं है।

कुमारिल की आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा गया है कि किसी शब्द से होनेवाला तंद् भिन्न का निषेध भावात्मक सत्ता की अपेक्षा नहीं रखता है, बल्कि वह पूर्ण और भावनिरपेक्ष अभाव या निषेध है। बौद्धों ने इस निषेध को ''प्रसज्यप्रतिषेध'' कहा है। कुमारिल एवं जयन्त भट्ट ने अपोह की अवधारणा को ''कल्पना विलास'' कहा है। बौद्ध दार्शनिकों का

---

178. शान्तरक्षित, उपर्युक्त, 919-20

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानना है कि अपोह-विचार पर जो भी आक्षेप किये जाते हैं, वे अपोह के प्रकार को समझने के बाद समाप्त हो जायेंगे। वस्तुतः आलोचकों ने अपोह को प्रसज्यप्रतिवेध मानकर ही आलोचना की है। किन्तु अपोह पर्युदास भी होता है और बुद्ध्यात्म तथा अर्थात्म रूप से दो प्रकार का भी होता है। किसी शब्द का अर्थ तद्भिन्न से भिन्न रूप में ही होता है। गाय का अर्थ तबतक नहीं जाना जाता है, जबतक गाय से भिन्न वस्तु को नहीं जाना जाय। गाय से भिन्न वस्तु से जो भिन्न होता है, वही गाय है। इस तरह अपोह का स्पष्ट अर्थ तद्भिन्न से भिन्न है। प्रसज्यप्रतिषेध के रूप में अपोह सदैव निषेधात्मक अर्थ का ही बोधक होता है, न कि भावात्मक अर्थ का। गाय से भिन्न वस्तु अ-गाय है और अ-गाय से भिन्न अ-अ-गाय है। अ-अ अर्थात् नहीं नहीं पूर्ण एवं भावनिरपेक्ष अभाव है। अतएव निषेध को भावरूप नहीं माना जा सकता है।

जहाँ तक पर्युदास अपोह है, तो बुद्ध्यात्म अपोह में वस्तुनिष्ठ सत्ता का निषेध होता है। 'गाय' शब्द के अर्थ को समझने के लिए न केवल गाय से भिन्न वस्तु का निषेध होता है, वरन् एक गाय से भिन्न दूसरी गायों का भी निषेध होता है। फिर भी सभी गायों को 'गाय' कहा जाता है। इसका कारण है कि एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी सभी द्रव्य, क्रिया आदि की समानता के आधार पर अभिन्न माना जाता है और घोड़ा, हाथी आदि से भिन्न, क्योंकि ये सभी द्रव्य आदि के आधार पर असमान हैं। गाय—भिन्न से भिन्न गाय की समानता की व्याख्या बुद्धयात्म अपोह से होती है। वस्तुतः प्रत्येक गाय की समानता ''जाति'' का बोध कराती है। लेकिन बौद्ध दार्शनिक जाति को स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने जाति की व्याख्या के लिए बुद्धयात्म अपोह को मान्यता दी है। जाति सामान्यरूप है और संप्रत्ययात्मक है। इस दृष्टिकोण से अपोह कल्पनाविलास नहीं, वरन् बौद्धिक या मानस प्रत्यय है। अर्थात्म अपोह एक गाय से भिन्न अन्य गाय के भेद को बतलाता है जो वस्तुनिष्ठ भेद है। इसलिए अर्थात्म अपोह को वस्तुनिष्ठ मानकर वस्तुनिष्ठ सत्ता की व्याख्या के लिए सक्षम माना गया है। वस्तुनिष्ठ सत्ता भावरूप होती है। फलतः अपोह मात्र निषेधात्मक नहीं, वरन् भावात्मक भी है। अर्थात्म अपोह बुद्ध्यात्म अपोह का कारण है। गाय से ही गाय-प्रत्यय उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व ही (गाय) सार (गाय-प्रत्यय) का आधार होता है। अस्तित्व भावमूलक होता है। अतः पर्युदास अपोह के रूप में अपोह भावसापेक्ष है।

उद्योतकर ने ''सब'' के उदाहरण द्वारा अपोह का खंडन किया है। बौद्धों का तर्क है कि यदि ''सब'' शब्द में ही अन्य सभी समाहित हैं अर्थात् सब के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो भाषा के अन्तर्गत अन्य शब्दों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। पर भाषा अनेक शब्दों को स्वीकार करती है, न कि मात्र 'सब' शब्द को। सब और एक, दो, तीन.... आदि अभिन्न नहीं हो सकते। एक, दो, तीन... आदि सब के अवयव हो सकते हैं, सब नहीं। सब अवयवी है। जिस प्रकार जंगल वृक्षों का समूह कहलाता है और वृक्ष उस जंगल का अवयव, उसी प्रकार सब और एक, दो, तीन... आदि का सम्बन्ध है। एक वृक्ष को जंगल नहीं कहा जा सकता। अनेक वृक्षों का समूह ही जंगल कहलाता है। अतः जंगल को न वृक्ष कहा जा सकता है और न ही वृक्ष को जंगल। अतएव बौद्धों की मान्यता है कि अपोह असंगत विचार नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आलोचना और आलोचना के उत्तर को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि अपोह-विचार में कतिपय त्रुटियाँ हैं, पर उस विचार को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। अपोह न केवल भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से वरन् तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी प्रासंगिक है, क्योंकि अपोह की विधि द्वारा सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता आती है। पाश्चात्य दार्शनिक पेलेगी का मानना है कि ज्योंहि हम चिन्तन आरम्भ करते हैं, अपने भावों को शब्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास करते हैं, त्योंहि हमारा विश्लेष्य विषय व्यावृत्यात्मक हो जाता है और विचार प्रतिषेधात्मक।[179] मिल ने कहा है कि 'नागर' शब्द का उच्चारण करते ही अपराधी, सैनिक, राजनैतिक और धर्मशास्त्रीय अर्थों का निषेध हो जाता है।[180] थामस कैम्पेनला ने भी "मनुष्य को मनुष्य इसलिए कहा है कि वह पत्थर, सिंह, गधा आदि नहीं" है।[181] स्पष्ट है कि जिस अपोह का विचार दिङ्नाग ने पांचवीं शताब्दी में दिया, उसी विचार को उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने स्वीकार किया। इससे यह सिद्ध होता है कि अपोह-विचार का महत्व आज भी है।

पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत निषेध की स्पष्ट अवधारणा जीनो के दर्शन में पायी जाती है। जीनो एक ग्रीक दार्शनिक है। उन्होंने अपने गुरू पार्मेनिडीज के शाश्वतवाद की पुष्टि के लिए निषेध की तर्कप्रणाली को अपनाया। इस प्रणाली द्वारा उन्होंने अनेकता, गति और दिक् का खंडन किया। इस खंडन द्वारा शाश्वत सत् तक का निष्कर्ष निकल सकता है। पर जीनो ने कोई निष्कर्ष नहीं दिया। उन्होंने केवल निषेध को एक तार्किक विधि के रूप में अपनाया।[182] परन्तु दिङ्नाग ने निषेध की स्पष्ट व्याख्या अपोह के रूप में की। वस्तुतः दिङ्नाग का निषेध-विचार अपेक्षाकृत संगत है। इस दृष्टिकोण से भी अपोह-विचार को अप्रासंगिक नहीं माना जा सकता।

□

179. शेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक, 1, पृ॰ 487.

180. वही,

181. वही, पृ॰ 490

182. डॉ॰ नरेश प्रसाद तिवारी, ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन— एक अवलोकन, पृ॰ 43-46.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वादश अध्याय

उपसंहार

भारतीय दर्शन में भाषाविश्लेषण का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में प्रस्तुत भाषाविश्लेषण की पूर्वपीठिका प्रतीत होता है। पाश्चात्य भाषाविश्लेषण का आरम्भ बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है। परन्तु भारतीय भाषाविश्लेषण अत्यन्त प्राचीन है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय से लेकर ग्यारहवें अध्याय तक भारतीय भाषाविश्लेषण की विवेचना की गयी है, जो भारतीय भाषाविश्लेषण की प्राचीनता को प्रमाणित करता है। इस प्राचीनतम विचार की तुलना आधुनिक (पाश्चात्य) भाषाविश्लेषण से की जाय, तो भारतीय भाषाविश्लेषण की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता भी प्रमाणित हो जायेगी।

यद्यपि पाश्चात्य भाषाविश्लेषण का आरम्भ बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है, परन्तु इसका बीज यूनानी दर्शन में भी मिलता है। प्लेटो ने शब्द की परिभाषा 'क़िसी वस्तु या विचार का वैशिष्ट्य अभिव्यक्ति' के रूप में दी है, अर्थात् शब्द किसी वस्तु या विचार का निर्देशक होता है। फिर भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान शब्द से नहीं हो पाता है, क्योंकि नाम, जो वस्तु का बोधक शब्द है, सीमित होता है जबकि वस्तुएँ जो शब्दार्थ हैं, असंख्य और असीमित हैं। एक नाम अनेक वस्तुओं का बोध कराता है। फलतः ससीम शब्द असीम अर्थाभिव्यक्ति का समग्र माध्यम है। इसलिए वास्तविक ज्ञान शब्द से नहीं हो पाता। भारतीय वैयाकरण दार्शनिकों ने भी कहा है कि शब्द से वास्तविक ज्ञान असम्भव है, क्योंकि शब्द तो 'स्फोट' मात्र है जो अखंड और अनिर्वचनीय है। यह परावाक् है। परन्तु व्यवहार में अनेक वस्तुएँ पायी जाती हैं, उन वस्तुओं का ज्ञान सखंड स्फोट द्वारा होता है। यह सावयव होता है। इसके अंग पद और वाक्य हैं। पदों का सार्थक समूह ही वाक्य है। अतः पद या शब्द वस्तु का द्योतक है, जो व्यावहारिक स्तर पर ही सत्य है। प्लेटो ने इतनी स्पष्टता से व्यवहार और परमार्थ के अन्तर को स्पष्ट नहीं किया है। स्फोटवादियों के समान प्लेटो ने भी शब्द को गौण और अर्थ को प्रधान माना है।

प्लेटो की अस्पष्टता को अरस्तू ने दूर किया है। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद है। इन दोनों में नित्य और आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होता है, अर्थात् अर्थ शब्दनिरपेक्ष होता है। परन्तु जब भाषा में शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो शब्द और अर्थ में अस्थायी सम्बन्ध बनता है। यह व्यभिचारी और बाह्य सम्बन्ध है, क्योंकि एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। भाषा-प्रयोग के कारण इनमें सम्बन्ध होता है, इसलिए इनका सम्बन्ध व्यावहारिक है, पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं। वस्तुतः शब्द अर्थ को संकेतित करनेवाला ध्वनि-प्रतीक है। पतंजलि ने भी शब्द को संकेत या प्रतीक मात्र माना है। अरस्तू के अनुसार "अर्थविशेष के लिए शब्दविशेष का प्रयोग इसलिए सम्भव होता है कि लोग उसका प्रतीक रूप में प्रयोग करने लगते हैं। शब्द किसी साधारण अर्थ से युक्त रहता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर जब वही वाक्य का अंग बन जाता है, तब वह अनेक अर्थों से युक्त हो जाता है।''[183] अरस्तू के ये शब्द स्पष्ट करते हैं कि वाक्य का अर्थ शब्दों के अर्थों का योग मात्र नहीं है, बल्कि वाक्य का पूर्ण या समग्र अर्थ है। भारतीय भाषाविश्लेषण के अन्तर्गत अन्विताभिधानवादियों ने वाक्य का अर्थ समग्र या पूर्ण अर्थ से लिया है। सिद्धान्त मुक्तावली में शब्दार्थ या वाक्यार्थ को जानने के लिए आठ साधनों का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक साधन है— वाक्यशेष। वाक्यशेष वाक्य के प्रयोग द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति को स्वीकारता है। अरस्तू ने भी वाक्य-प्रयोग पर ही अर्थ की अभिव्यक्ति माना है। परन्तु शेष सात साधनों का अभाव अरस्तू के विचार में है। अतः भारतीय भाषाविश्लेषकों का दृष्टिकोण अरस्तू की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

स्टोईकों ने भी शब्द को ध्वनि-संकेत माना है,जो किसी वस्तु का निर्देश देने के साथ-साथ उसके तात्पर्य को भी बतलाता है। दूसरे शब्दों में, शब्द का अर्थ न केवल संकेत या प्रतीक मात्र है, बल्कि वह निर्दिष्ट वस्तु और तात्पर्यार्थ को भी बतलाता है। इम्पिरिकस का मानना है कि शब्द के दो अर्थ होते हैं— सामान्य और विशिष्ट। एक का सम्बन्ध शब्द से निर्दिष्ट वस्तु से है, तो दूसरे का सम्बन्ध शब्द के वाच्य (अभिधा) अर्थ से है। शब्द का वाच्यार्थ ही शब्दार्थ के स्वरूपनिरूपण (सामान्य या सार अर्थ के निरूपण) में ही तार्किक अध्ययन का विषय है।''[184] वस्तुतः इम्पिरिकस ने अर्थ को प्रधान माना है, शब्द को नहीं। भर्तृहरि ने भी स्फोट (शब्दार्थ) को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है, शब्द मात्र को नहीं। भर्तृहरि के समान स्टोईकों ने भी अर्थ-निरूपण पर बल दिया है। मेलांक्थस का विचार है कि ''हम शब्दों को नहीं सुनते। जिन्हें हम पृष्ठों पर अंकित देखते हैं, उन शब्दों को भी नहीं सुनते। हम उन शब्दों को सुनते हैं, जिनकी पूर्व सत्ता है, जो सरलतर हैं और इसलिए जो अधिक महत्वपूर्ण हैं।''[185] स्पष्ट है कि मेलांक्थस ने अर्थ को शब्द का पूर्ववर्त्ती माना है। भर्तृहरि ने भी स्फोट के रूप में अर्थ को शब्द का पूर्ववर्त्ती ही स्वीकारा है। शब्द तो व्यावहारिक सत्ता है, जो अपेक्षाकृत गौण है।

हॉब्स के अनुसार शब्द का अर्थ नित्य होता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अर्थ ईश्वर द्वारा प्रदत्त है। ईश्वर ने ही सबसे पहले शब्द और उसके अर्थ की व्यवस्था की थी। उसने सृष्टि के आरम्भ में ही स्वनिर्मित प्राणियों को आदम के सामने लाकर उनका नामकरण करने के लिए कहा। आदम के मुंह से जिस प्राणी को देखकर अनायास जो नाम निकला, वही नाम उस प्राणी का हो गया। अतः वह नाम ही शब्द का अर्थ है जिसमें परिवर्तन की गुंजाईश नहीं है। यदि कभी ऐसा होता है कि शब्द के अर्थ में मानवीय भूल या भ्रम के कारण परिवर्तन हो जाय, तो इसका तात्पर्य होता है कि शब्द-अर्थ की व्यवस्था में अशुद्धि आ गयी। इस अशुद्धि को दूर करने का दायित्व राजा को है, क्योंकि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। इसलिए कहा गया है कि यदि कतिपय शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में दो विरोधी मत हों, तो राजा को वह विरोध दूर कर एक उचित अर्थ का निर्धारण करना चाहिए। न्याय दर्शन में भी माना गया है कि शब्द में अर्थ ईश्वरप्रदत्त है, फिर भी शब्द के अर्थ प्रसंगानुसार परिवर्तित होते हैं। यह परिवर्तन मानवीय भूल या भ्रम के कारण नहीं होता, बल्कि परिस्थिति और प्रसंग के अनुसार शब्दों के प्रयोग पर निर्भर करता है।

---

183. अरस्तू, ऑन इन्टरप्रिटेशन्स, 16 ए,
184. बोडेन्स्की, हिस्ट्री ऑफ फॉर्मल लॉजिक, पृ॰ 105.
185. वही, पृ॰ 305

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मीमांसा दर्शन शब्द के अर्थ में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव नहीं करता है, क्योंकि शब्द में निहित अर्थ स्वयंभू है, किसी बाहरी (ईश्वर या मनुष्य) सत्ता द्वारा प्रदत्त नहीं। अतः शब्दार्थ सदैव नित्य होता है। ऐसा लगता है कि हॉब्स का विचार न्याय और मीमांसा दर्शनों के विचार से साम्य रखता है। पर शब्दार्थ पर जितना स्पष्ट विचार न्याय और मीमांसा दर्शनों का है, उतनी स्पष्टता हॉब्स के विचार में नहीं है।

लॉक ने शब्द के संप्रत्ययात्मक अर्थ को स्वीकारा है। उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को भाषा प्रदान की। मनुष्य के अवयव इस प्रकार बनाये गये कि वे उच्चरित ध्वनियों को रूपायित कर सके। इसे ही शब्द कहते हैं। मनुष्य इस उच्चरित या अभिव्यक्त ध्वनि-समूह अर्थात् शब्द का प्रयोग मानस-प्रत्यय के संकेत रूप में करता है। उदाहरण के लिए, 'त्रिकोण' शब्द का अर्थ विशिष्ट आकार वाला त्रिकोण नहीं, वरन् उस शब्द से मन में बननेवाला त्रिकोण का सामान्य रूप अर्थात् प्रत्यय मात्र है। उस प्रत्यय में त्रिकोण की वे सभी विशिष्टताएँ सम्मिलित रहती हैं, जो सभी त्रिकोण में समान रूप से पायी जाती हैं।[186] तात्पर्य है कि लॉक ने मानस-प्रत्यय के आधार पर ही पशु की उच्चरित ध्वनियों और मनुष्य की उच्चरित ध्वनियों में अन्तर किया है। पशु अपनी व्यक्त ध्वनियों का मानस-प्रत्यय नहीं बना सकता, जबकि मनुष्य में यह क्षमता पायी जाती है। शब्द में नियत अर्थ के बोध की शक्ति रहती है। इस शक्ति को पशु समझने में अक्षम है, मनुष्य सक्षम है। अर्थ-बोध की यह शक्ति अभिधा कहलाती है। यह असीम है। परन्तु जब भाषा में इसका प्रयोग होता है, तो यह असीम शक्ति सीमित हो जाती है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी शब्द का प्रयोग किसी अर्थ में करता है तो वह विशिष्ट क्षण का विशिष्ट प्रयोग होता है।[187] तात्पर्य है कि शब्द वह ध्वनि-संकेत है जिसका प्रयोग अनेक विशिष्ट वस्तुओं के लिए किया जा सकता है। अतः शब्द से पहले प्रत्यय का बोध होता है और उसके बाद शब्द बाह्य वस्तु का निर्देश करता है। प्रत्यय ही शब्द का वास्तविक अर्थ है। लॉक के इस संप्रत्ययात्मक विचार का समर्थन बौद्ध शून्यवाद, बौद्ध विज्ञानवाद और अद्वैत वेदान्त में मिलता है। बौद्ध शून्यवादियों ने 'मानस वेदना' को ही शब्द का अर्थ माना है। बौद्ध विज्ञानवादियों ने भी विज्ञान के रूप में मानस प्रत्यय को ही शब्द का अर्थ बतलाता है। अद्वैत वेदान्त भी शब्दार्थ को मात्र सम्प्रत्यय मानता है।

परन्तु बर्कले और लाइबनीज ने लॉक के विचार में असंगति दिखलायी है। बर्कले का मानना है कि प्रत्येक शब्द अनिवार्यतः किसी प्रत्यय का प्रतिनिधि नहीं होता है और यह भी नहीं माना जा सकता कि जो नाम (शब्द) किसी प्रत्यय का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, वह भावात्मक विचार का बोध कराता है। वस्तुतः शब्द भावात्मक प्रत्यय का प्रतिनिधि नहीं बन सकता, क्योंकि जब हम भाषा-प्रयोग से परिचित हो जाते हैं, तब शब्द की संवेदनात्मक स्थिति में पहुंच जाते हैं। फलतः शब्द को प्रत्यय के प्रतीक रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, किसी भी प्राणी चाहे वह मनुष्य या अन्य पशु हो, के आकार का ग्रहण नहीं हो पाता है। मनुष्य, हाथी, घोड़ा, कोयल आदि सभी पशु-पक्षियों का बोध इन शब्दों से होता है। परन्तु इन शब्दों से इनके प्रत्यय का बोध कदापि नहीं होता है।[188] इसी प्रकार आकाशकुसुम, बन्ध्यापुत्र, सौन्दर्य, राग, द्वेष आदि शब्दों से भी प्रत्यय

---

186. जॉन लॉक, एन एसे कान्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, 3.1.1
187. वही, 2.1.1.
188. जॉर्ज बर्कले, प्रिन्सिपुल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज, पृ० 58-60

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का बोध नहीं होता, वरन् संवेग का ही बोध होता है। अतएव शब्दार्थ का तात्पर्य मानस प्रत्यय न होकर संवेदना मात्र है। लॉक और बर्कले के विचार में एक समानता अवश्य है। वह है— शब्द के ज्ञान का वैयक्तिक अन्तर्बोधात्मक स्वरूप का होना।

लाइबनीज का मानना है कि शब्द वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं करा सकता है, क्योंकि एक ही शब्द के अर्थ का ज्ञान अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग होता है। साथ ही, किसी शब्द का वर्त्तमान काल में जो अर्थ है, आवश्यक नहीं कि भविष्य में भी उस शब्द का वही अर्थ हो। शब्द के अर्थ में समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में शब्दार्थ प्रत्यय नहीं हो सकता। परन्तु काण्ट ने शब्दार्थ को सीमित अर्थ में प्रत्यय स्वरूप माना है। काण्ट के अनुसार गणित का प्रत्येक कथन एक संश्लेषित निर्णय मात्र है, परन्तु वस्तुओं के संदर्भ में ऐसा निर्णय नहीं पाया जाता है। यदि हम कहते हैं कि सात और पांच बारह है, तो इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हमारे मन में बारह का प्रत्यय सात और पांच के योगफल के रूप में है, बल्कि बारह का प्रत्यय असंख्य संख्याओं के योगफल, गुणनफल आदि के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है, फिर भी उनमें हमें कहीं बारह की संख्या नहीं मिलती।[189] तात्पर्य यह है कि सात और पांच के अर्थ को उनके योगफल, गुणनफल आदि के बिना भी जान सकते हैं। परन्तु किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रयुक्त कथनों के सभी अंशों (पदों) के अर्थ को जाने बिना उन कथनों का अर्थ नहीं जाना जाता, अर्थात् पदों के योगफल ही कथन का अर्थ होता है। इसलिए काण्ट ने केवल गाणतिक संदर्भ में ही शब्दार्थ को प्रत्यय स्वरूप माना है, अन्य संदर्भ में नहीं। गणित के कथन निश्चित अर्थ का बोध कराते हैं, जबकि अन्य कथन निश्चित अर्थ का बोध नहीं कराते। यही कारण है कि काण्ट ने शब्दार्थ के ज्ञान को पूर्णरूपेण प्रत्ययात्मक नहीं माना है।

मिल शब्दों की दो श्रेणियों का उल्लेख करता है— नामवाची या संज्ञा शब्द और गुणवाची शब्द। संज्ञा शब्द या नाम किसी वस्तु का निर्देश मात्र करता है, वस्तु के गुण आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् नामवाची पद शब्दार्थ देने में असमर्थ है। बौद्ध विज्ञानवादी दिङ्नाग ने भी कहा है कि हम वस्तु के स्वलक्षण मात्र को जानते हैं, अर्थात् शब्द किसी वस्तु के नाम का द्योतक होता है, उससे वस्तु का स्वरूप (शंब्दार्थ) नहीं जाना जा सकता। दिङ्नाग ने वस्तु के सामान्य लक्षण का भी उल्लेख किया है जिसे जानने के लिए अपोह की विधि अपनायी गयी है। अपोह एक निषेधात्मक तार्किक विधि है। मिल ने गुणवाची शब्द के द्वारा वस्तुओं के गुण अर्थात् स्वभाव के बोध की बात की है। उनका मानना है कि जब शब्द से किसी वस्तु का बोध होता है, तो वह बोध वस्तुतः वस्तु के गुणों का होता है। गुणों के आधार अर्थात् वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। बर्कले ने भी वस्तुओं के गुणों के ज्ञान की बात की है, न कि वस्तु के ज्ञान की। वस्तुओं का गुण प्रत्यय मात्र है। मिल ने गुण को ही शब्दार्थ-बोध का साधन माना है। उनके ही शब्दों में, "गुणवाची शब्द किसी वस्तु (गुण का आश्रयभूत पदार्थ) का निर्देश करता है और उस पदार्थ के विशिष्ट गुणों का बोध कराता है। नामवाची शब्द सूचना देता है। तात्पर्य है कि विशिष्ट मानस प्रत्यय (गुण प्रत्यय मात्र होता है) के साथ सादृश्य होने के कारण ही बाह्य वस्तुओं का शब्द से ग्रहण होता है।"[190]

---

189. इमानुएल काण्ट, द क्रिटिक ऑफ प्योर रीजनिंग, पृ० 630
190. जॉन स्टुअर्ट मिल, मेथड ऑफ लॉजिक, 3.8.1.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय भाषाविश्लेषण में शब्दार्थ के लिए संज्ञा, गुण, जाति और क्रिया को आवश्यक तत्त्व माना गया है। परन्तु मिल ने केवल गुण पद को आवश्यक माना है। नैयायिकों ने संज्ञा पद, मीमांसकों ने शब्दार्थ के लिए क्रिया पद को प्रधानता दी है। पर पतंजलि, दंडी आदि आचार्यों ने संज्ञादि सभी चार पदों को शब्दार्थ-बोध के लिए अनिवार्य माना है।

पर्स और जेम्स व्यवहार के अनुरूप शब्दार्थ को स्वीकारते हैं। उनके अनुसार किसी शब्द का अर्थ व्यावहारिक परिणाम अर्थात् हमारे अनुभव के परिणामों पर आधारित प्रत्यय मात्र होता है। पर्स के शब्दों में, किसी प्रत्यय से सम्बद्ध आवश्यकताओं द्वारा कल्पित व्यावहारिक परिणाम के आधार पर ही प्रत्यय का अर्थ निर्धारण किया जा सकता है। परिणामों का योग ही किसी प्रत्यय के पूर्ण अर्थ का स्वरूप होता है।[191] जेम्स ने कहा है कि शब्दार्थ का ज्ञान अनुभव के परिणामों से व्यक्त रूप की दिशा में या किसी धारणा के परिणामों की ओर एक प्रकार का मार्गनिर्देश है। स्पष्ट है कि पर्स और जेम्स ने शब्द को प्रत्यय मात्र माना है और शब्दार्थ को व्यावहारिक परिणाम। व्यावहारिक परिणाम का तात्पर्य है कि जब किसी शब्द का उच्चारण होता है और उस शब्द में ऐसा संकेत या निर्देश पाया जाता है कि वह हमारे दैनिक जीवन के लिए उपयोगी है, तो वही उस शब्द का अर्थ होता है। अतः कहा जा सकता है कि शब्द का अर्थ उस शब्द से सूचित होनेवाली उस वस्तु का निर्देश करता है, जो हमारे लिए उपयोगी होता है। पर्स ने स्पष्टतः कहा है कि शब्द अर्थ का प्रतिनिधित्व करनेवाला संकेत-चिह्न है जो संदर्भविशेष में व्यक्तिविशेष के लिए किसी विशेष वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। 'संदर्भविशेष' शब्द इस बात का द्योतक है कि शब्द के अर्थ को नियत नहीं माना जा सकता। उसमें परिवर्तन होता रहता है। भारतीय दर्शन के अंतर्गत नैयायिकों ने भी शब्द के अर्थ को परिवर्तनशील अर्थात् अनित्य माना है। नैयायिकों की भांति ही पर्स और जेम्स ने शब्दअनित्यतावाद में विश्वास किया है।

फ्रेगे ने शब्दार्थ और शब्दार्थ-ज्ञान में अन्तर किया है। उनके अनुसार अर्थ में विस्तार होता है, जबकि शब्दार्थ-ज्ञान सीमित होता है। वस्तुतः शब्दार्थ-ज्ञान के तीन रूप होते हैं— प्रत्यय, ज्ञान और सम्प्रेषण। कुछ शब्द संकेत मात्र होते हैं। जैसे— व्यक्तिवाचक नाम, नामवाची पद अर्थात् व्यक्तिवाचक नाम जिस वस्तु का निर्देश करता है, वही उसका संकेतित अर्थ होता है। नाम और निर्देशित वस्तु के बीच पाया जानेवाला सम्बन्ध ही अर्थ है। किन्तु कुछ ऐसे नाम होते हैं जिनका वस्तु के गुण आदि से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। ऐसे नाम अर्थहीन होते हैं। इस प्रकार फ्रेगे ने शब्दार्थ का तात्पर्य सार्थक नाम या पद से लिया है जो किसी वस्तु का निर्देश करता हो। रसेल ने भी कहा है कि नाम भी सार्थक होते हैं। वे नाम, जो प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न होते हैं और जिनके साथ 'द' (The) लगा रहता है, सार्थक होते हैं। फ्रेगे ने भी व्यक्तिवाचक नाम को प्रत्यय माना है। परन्तु रसेल ने नाम को सार्थक मानते हुए भी उसे अपूर्ण प्रतीक की संज्ञा दी है। तात्पर्य यह है कि नाम पद से शब्दार्थ का ज्ञान अधूरा होता है। यही कारण है कि रसेल ने 'अर्थ' को ही प्राथमिकता दी है। उनके अनुसार शब्द उन विचारों के प्रतिनिधि होते हैं, जिन्हें अर्थ कहा जाता है। प्रत्येक कथन में कुछ ऐसे तथ्य होते हैं जिन्हें उस कथन का विषय माना जाता है। कथन की सार्थकता या यथार्थता का निर्णय उस अवधारणा के आधार पर होता है जो तार्किक एवं

191. चार्ल्स पर्स, कलेक्टेड पेपर्स, भाग 2, पृ० 135.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का योग होती है। कहा गया है कि शब्द ऐसा प्रतीक है जो किसी धारणा को व्यक्त करता है। यह धारणा तार्किक मानस विकल्प के रूप में होती है। मानस विकल्प के बोध में ही शब्द की सार्थकता निहित है।[192] मानस विकल्प तो प्रत्यय मात्र है। अतः शब्दार्थ का स्वरूप प्रत्ययात्मक या मानसिक होता है।

क्वाइन फ्रेगे और रसेल से सहमत नहीं हैं। शब्दार्थ के लिए उन परिस्थितियों या संदर्भों पर भी विचार होना चाहिए जिनमें शब्द का प्रयोग या उच्चारण किया जाता है। परिस्थितियों के अनुकूल ही शब्दार्थ का ज्ञान होता है। अतएव शब्द का नित्य या नियत अर्थ असम्भव है। वस्तुतः शब्द और उसके अर्थ में अभिन्नता नहीं होती।[193] क्वाइन नैयायिकों की तरह ही शब्दअनित्यतावाद में विश्वास करता है। विटगेन्स्टाइन का मानना है कि विश्व में ऐसा कुछ भी नहीं है जो भाषिक बोध का विषय नहीं हो और भाषा से जो जाना जाता है, वह सत्य होता है भले ही उसकी सत्ता बाह्य विश्व में नहीं हो। इसका तात्पर्य है कि संसार की सीमा ही भाषा की सीमा है।[194] भाषा का प्रयोग शब्दों द्वारा होता है। अतः संसार की वस्तुओं का ज्ञान शब्दार्थ के ज्ञान पर निर्भर करता है। लेकिन विटगेन्स्टाइन किसी शब्दार्थ के प्रत्ययात्मक स्वरूप को नहीं मानता है, बल्कि उसके प्रयोगात्मक स्वरूप पर बल देता है। कहा गया है कि शब्द का अर्थ विचारणीय नहीं, विचारणीय उसका प्रयोग है।[195] सम्भवतः यही कारण है कि विटगेन्स्टाइन ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को दिखलाने के लिए 'चित्र' और 'खेल' के प्रतीक को चुना।

तार्किक भाववादी कार्नेप ने भाषा की दो विधियाँ स्वीकार की— वस्तुगत और आकारगत। आकारगत विधि ही दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए अपेक्षित है। इस विधि में भाषा प्रतीकों के अर्थ का या अभिव्यक्ति के तात्पर्य का निर्देश नहीं करती, वरन् मात्र प्रतीकों के प्रकार और क्रम का निर्देश करती है। किन्तु एयर और श्लिक ने भाषा की वस्तुगत विधि को भी शब्दार्थ-चिन्तन में उपयोगी माना है। न्यूरथ की मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने-आप से उतना ही भिन्न है जितना भिन्न वह दूसरे मनुष्यों से है। इसलिए एक ही व्यक्ति के दो कथन उसी प्रकार एक-दूसरे से सम्बद्ध या असम्बद्ध होते हैं, जिस प्रकार दो व्यक्तियों के दो कथन एक-दूसरे से सम्बद्ध या असम्बद्ध हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कोई भी कथन निश्चित रूप से अर्थवान नहीं होता। शब्दार्थ का ज्ञान तभी होता है जब वे परस्पर सम्बद्ध हों। यह विचार अन्विताभिधानवादियों की तरह है। बौद्ध विज्ञानवाद भी सभी विज्ञानों की परस्पर सम्बद्धता को स्वीकारता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी में प्रचलित पाश्चात्य भाषाविश्लेषण कोई नयी देन नहीं है। इसका पूर्वाभास ग्रीक दर्शन तथा देकार्त्त आदि के दर्शन में मिलता है। साथ ही, भारतीय दर्शन में प्राप्त भाषाविश्लेषण से कई बिन्दुओं पर समानता भी दिखलायी पड़ती है, चाहे वह ग्रीक दर्शन, आधुनिक दर्शन या बीसवीं शताब्दी का पाश्चात्य दर्शन हो। सच कहा जाय, तो भारतीय भाषाविश्लेषण अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन

192. बर्ट्रेन्ड रसेल, लॉजिक, खंड 1, पृ० 58.
193. डब्ल्यू० वी० क्वाइन, फ्रॉम ए लॉजिकल प्वॉइन्ट ऑफ व्यू, पृ० 47
194. डी० एफ० पियर्स, ट्रेक्टेटस लॉजिको फिलॉसोफिकस-लुडविग विटगेन्स्टाइन, पृ० 561
195. टी० विजडम, फिलॉसफी एण्ड साइको एनालिसिस, उद्धृत डॉ० शोभाकान्त मिश्र, शब्दार्थ-तत्त्व, पृ० 127.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते हुए भी यह उतना ही स्पष्ट एवं विस्तृत है जितना बीसवीं शताब्दी का पाश्चात्य भाषाविश्लेषण। ग्रीक दर्शन, देकार्त्त आदि के दर्शन में प्राप्त भाषाविश्लेषण बीज रूप में होने के कारण अस्पष्ट और संकुचित है। भारतीय भाषाविश्लेषण तत्त्वमीमांसा का निराकरण नहीं करता, बल्कि तत्त्वमीमांसा की नींव पर ही भाषाविश्लेषण का विशाल भवन खड़ा करता है। यही कारण है कि भारतीय भाषाविश्लेषण आज भी अपना अस्तित्व स्वाभिमानपूर्वक बनाये रखा है, जबकि पाश्चात्य भाषाविश्लेषण का अस्तित्व इक्कीसवीं शताब्दी में अनुपलब्ध है। पाश्चात्य दर्शन का विकास वैयक्तिक और कालिक रूप में होता रहा है। तार्किक भाववाद अपने अन्तर्विरोधों के साथ डेढ़-दो दशकों में ही समाप्त हो जाता है। विटगेन्स्टाइन स्वयं ट्रेक्टेटस की भूल को फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशन में सुधारता है, और भाषाविश्लेषण के तत्त्वमीमांसीय आधार ढूँढने का प्रयास करता है। एयर, रसेल आदि के विचार में भी तत्कालीन सामयिक चिन्तकों ने कमियाँ ढूँढ निकाली और एक दूसरे के विचार को संशोधित करने का प्रयास किया। फिर भी वे टिक नहीं पाये, क्योंकि उनका आधार कमजोर था। तत्त्वमीमांसाविहीन भाषाविश्लेषण अल्पकालिक साबित हुआ। यही कारण है कि स्ट्रॉसन, क्वाइन आदि ने भाषाविश्लेषण के साथ-साथ एक नयी तत्त्वमीमांसा की खोज की, जो प्लेटो, देकार्त्त आदि की प्राचीन या शास्त्रीय तत्त्वमीमांसा से बिल्कुल भिन्न है।

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Books of Related Interest:—

LANGUAGE — *Leonard Bloomfield*

This book presents the fundamentals of Linguistics and the historical survey of Languages. It focuses mainly on the study and use of languages of the World, the phonetic structure and change, syntax, Morphology, written records, Dialect Geography, Fluctuation in the Frequency of Forms, Dialect, Applications and Outlook, etc.

PANINI : A Survey of Research

George Cardona

The present work is intended as a critical survey of research carried out in the area of Paninian grammar, including works by Paniniays on semantics and philosophy of Grammar.

TRADITION AND ARGUMENT IN CLASSICAL INDIAN LINGUISTICS

Johannes Bronkhorst

Paribhasendusekhara by Nagesa is the most widely studied text in the field of grammatical Paribhasas. Numerous commentaries have been written on it, including one by Nagesa's pupil, the portion dealing with the Bahiranga-Paribhasa, i.e. the most important Paribhasa and the one most extensively discussed by Nagesa, has according to Bronkhorst, been misunderstood by commentators and translator alike. This is shown in the present book.

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान

डॉ. पाण्डुरंग दामोदर गुणे

प्रोफेसर गुणे की Introduction to Comparative Philosophy भाषा-विज्ञान के अंग्रेजी पाठकों के लिए सामान्य सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवेचन करने वाली, सर्वाधिक सुविधाजनक अपने ढंग की मार्ग-प्रदर्शक कृति रही है। प्रायः सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में आज यह पाठ्य पुस्तक के रूप में नियुक्त है। भाषा-विज्ञान के पाँच प्रमुख विषय- भाषासिद्धान्त, भाषापरिवार, भारत-ईरानी वर्ग, पालि और प्राकृत, साहित्यिक प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषा-इसके इन पाँच अध्यायों में जिस प्रकार सुविशद और सुविस्तृत रूप में वर्णित हैं, अन्यत्र कहीं भी वर्णित नहीं मिलते।

MOTILAL BANARSIDASS
SINCE 1903 IN INDOLOGY
MLBD
E-mail: mlbd@mlbd.com
Website: www.mlbd.com

₹ 95

Language & Linguistics

ISBN 978-81-208-3955-7
9 788120 839557